जेएनयू परिसर

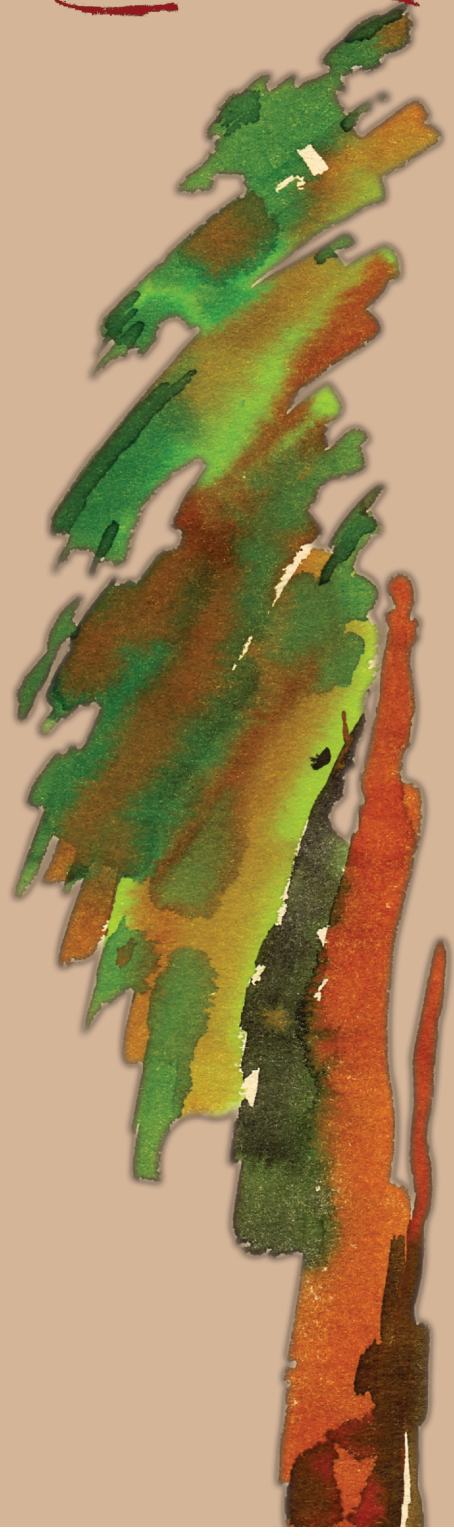

वर्ष–1 अंक–1 जनवरी–जून 2013

फ्लेम ऑफ द फोरेस्ट

इण्डियन कैबेज व्हाईट

'परिसर पर्यावरण'

"हमारे भव्य जंगलात उन वन्य जीवों एवं खूबसूरत परिंदों को उद्धृत करते हैं जो हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाते हैं। यदि ये भव्य वन्य जीवन हमें खेलने व देखने को ना मिले तो हमारा जीवन नीरस व रंगहीन हो जाएगा। अतः हमें बचे हुए वन्यजीवों एवं जंगलों का संरक्षण करना चाहिए।"

— पं. जवाहरलाल नेहरू

जेएनयू परिसर किसी भी परिसरवासी के लिए कभी भी ना भूलने वाला एक अहसास है, और ये अहसास मेरी स्मृति पटल पर आज भी उतनी ही ताज़गी से अंकित है जितना लगभग 30 वर्षों पूर्व था।

महाभारत कालीन 'खाण्डवप्रस्थ' के अरावली पर्वत श्रृंखलाओं की गोद में बसे इस भाग की अपनी एक अनोखी पहचान है। जेएनयू विश्व में ना केवल अपनी संस्कृति, सामाजिक न्याय और बौद्धिक आतंकवाद के लिए जाना जाता है; वरन, यहाँ की ऐतिहासिक धरोहरों एवं जैव–विविधताओं के लिए भी प्रसिद्ध है।

लगभग 1100 एकड़ के इस परिसर में कई पाषाण युगीन अवशेष मिले हैं, जो पुरातत्व विभाग में आज भी उपलब्ध हैं। लगभग 200 प्रजातियों के देशी व प्रवासी पंछी, 80 प्रजातियों की तितलियाँ, 30 प्रजातियों के सरीसृप एवं 15 प्रजातियों के स्तन धारी इस परिसर के अभ्यारण में विचरण करते हैं जिनमें से कई दुर्लभ व अति दुर्लभ प्रजातियों के हैं एवं वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम 1972 के तहत संरक्षित हैं।

मानसून और वसंत में 43 वर्षीय परिसर अपने यौवन के पूर्ण उन्माद पर होता है। जल से लबालब भरे जलाशयों में जल क्रीड़ा करते परिंदे, पेड़ पौधों पर मंडराते भौंरे व तितलियाँ, हरी घास में कुलाचें भरते नील गायों के छौने, पगडण्डियों पर कालीन की तरह बिछे बोगनबेलिया के फूल किसी को भी सम्मोहित कर सकते हैं।जेएनयू परिसर स्वयं में एक 'परिसर–संस्कृति' है जिससे अलग होना नामुमकिन है। 'जेएनयू आज' इसका द्योतक है। यकीनन परिसर दिल्ली नगरी का एक 'ग्रीन लंग' है, जो हर परिसर वासी को ना केवल शारीरिक रूप से वरन मानसिक रूप से भी स्वस्थ रखता है।

— सूर्य प्रकाश

संपादक-मंडल

अध्यक्ष
प्रो. वरयाम सिंह

सदस्य
प्रो. सौमित्र मुखर्जी
डॉ. संदीप चटर्जी
डॉ. देवेन्द्र कुमार चौबे
डॉ. डी. के. लोबियाल
डॉ. मणीन्द्र नाथ ठाकुर
श्रीमती पूनम एस. कुदेसिया

संपादन सहयोग
सुनीता और देवांजन खुटिया

विशेष सहयोग
गणपत तेली

प्रबंध संपादन सहयोग
के. एम. शर्मा
ओम प्रकाश दीवान
डॉ. सूर्य प्रकाश

आवरण चित्र
डॉ. गोबिन्द प्रसाद

संपर्क
संपादक
जेएनयू परिसर
हिंदी एकक
301, प्रशासनिक भवन
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

दूरभाष : +91 11 26704023, 26704283

ई–मेल : jnuparisar@mail.jnu.ac.in &
hindiunit@mail.jnu.ac.in

संपादन/संचालन : अवैतनिक

जेएनयू की इस गृह पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के हैं। उनसे विश्वविद्यालय अथवा संपादक मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं। उसके लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं।

जेएनयू परिसर
वर्ष-1 अंक-1 जनवरी-जून 2013

संपादकीय / 2
बातचीत / 3
सुधीर कुमार सोपोरी
सौमित्र मुखर्जी
अध्ययन कक्ष / 11
सुधा पई
पाठ्यक्रम संवाद : हिंदी / 14
गंगा प्रसाद विमल, मैनेजर पाण्डेय
लेखक की दुनिया / 18
तुलसी राम
आत्मकथा / 20
मणिकर्णिका : तुलसी राम
विचार / 23
आनन्द कुमार, कमल मित्र चिनॉय
सृजन / 30
केदारनाथ सिंह
लेख / 32
बृजेश कुमार, गणपत तेली
अनुवाद / 37
अनीता खन्ना, राम चंद्र गुप्ता,
मीनाक्षी सुन्द्रियाल
कविता / 42
गोबिंद प्रसाद, संदीप चटर्जी,
रमेश चन्द्र जोशी
अंतर विमर्श / 45
गिरीश नाथ झा, गंगा सहाय मीणा
यादों के गलियारे से / 51
यशवंत सिंह, सुभाष शर्मा
गंगा ढाबा / 56
संदीप सिंह
समीक्षा / 58
संदीप जायसवाल
गतिविधियाँ / 60
वार्षिक सम्मेलन, व्याख्यान

संपादकीय

'जेएनयू परिसर' नाम से आज से सत्रह वर्ष पहले हिंदी विभाग और हिंदी एकक से जुड़े लोगों के प्रयास से पत्रिका का प्रकाशन हुआ था। दुर्भाग्य से पत्रिका का प्रकाशन प्रवेशांक तक ही सीमित रह गया। ऐसा क्यों हुआ ? इसका क्या कारण था ? जब साधन उपलब्ध थे तो पत्रिका का प्रकाशन जारी क्यों नहीं रखा गया ? यह सोचने का विषय है; पर इतना स्पष्ट है कि इस पत्रिका का पहला अंक विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों की रचनाओं को प्रकाशित करने का प्रयास था। ऐसा नहीं था कि विश्वविद्यालय में हिंदी में लिखने वालों की कमी थी। इसलिए बाकी लोगों को भी इससे जोड़ा जाना चाहिए था।

अब 'जेएनयू परिसर' विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका के रूप में ही नहीं; बल्कि विश्वविद्यालय की गृह पत्रिका के रूप में सामने आ रही है। इसमें यहाँ के अध्यापकों, विद्यार्थियों और कर्मचारियों को एक मंच प्रदान करने का प्रयास किया जा रहा है। आज से चार दशक पहले विश्वविद्यालय में अध्यापकों और विद्यार्थियों की संख्या सीमित थी। अधिकांशतः सभी एक–दूसरे से भली–भाँति परिचित थे। न केवल परिचित थे; अपितु यह तथ्य सबके सामने था कि किस संकाय में क्या नवीन शोध कार्य हो रहा है। लेकिन आज हम देखते हैं कि विश्वविद्यालय में न केवल विद्यार्थियों, अध्यापकों की संख्या में इजाफ़ा हुआ है बल्कि इस विश्वविद्यालय में संकायों की संख्या भी बढ़ी है। इसके साथ ही अध्ययन संस्थानों, प्रयोगशालाओं और पाठ्यक्रमों की संख्या में वृद्धि और विविधता आयी है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि एक संकाय के लोगों को दूसरे संकाय में क्या नवीन शोध हो रहा है इसकी जानकारी न के बराबर है। जो थोड़ी बहुत जानकारी मिल भी रही है वह संचार माध्यमों से। अर्थात, यदि पर्यावरण विज्ञान संकाय का कोई वैज्ञानिक अथवा अध्यापक अपने कार्य हेतु किसी पुरस्कार और प्रशस्ति पत्र से सम्मानित होता है तो हमें यह खबर अखबारों में पढ़कर मालूम होती है। इसी तरह से यदि भाषा संकाय का कोई अध्यापक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा सम्मानित होता है तो इसकी सूचना हमें पत्र–पत्रिकाओं से प्राप्त होती है। यह पत्रिका विश्वविद्यालय में हो रहे शोध व अन्य कार्यों से विश्वविद्यालय के सभी समुदायों को परिचित कराती रहे। ऐसा हमारा उद्देश्य है। कुछ ही वर्ष पहले विश्वविद्यालय को उत्कृष्ट शोध कार्य करने की क्षमता विकसित करने के लिए सम्मानित किया गया। इस विश्वविद्यालय को एन.ए.सी.सी. द्वारा भारत का उत्कृट विश्वविद्यालय माना है। जाहिर सी बात है कि यह सम्मान विश्वविद्यालय को विशेष रूप से ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन देने के कारण दिया गया है। हमारा मानना है कि गृह पत्रिका के रूप में विश्वविद्यालय के हर सदस्य को यहाँ हो रहे कार्य की जानकारी उपलब्ध होनी चाहिए। आशा है कि यह कार्य इस पत्रिका के माध्यम से सम्भव हो सकेगा।

वर्तमान जेएनयू प्रशासन का हिंदी के प्रति सकारात्मक रवैया देखने को मिला है। प्रशासन में हिंदी के प्रयोग को कई स्तरों पर प्रोत्साहित किया जा रहा है। लेकिन इसमें कठिनाई यह है कि सब कुछ प्रशासकीय प्रयासों से सम्भव नहीं हो सकता है। हिंदी हमारे देश की सशक्त सम्पर्क भाषा है और सम्प्रेषणीयता का उत्कृष्ट माध्यम सिद्ध हो चुकी है। हिंदी के प्रयोग में व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रयास किए जाने की ज़रूरत है।

पत्रिका के इस अंक में हिंदी के प्रख्यात कवि केदारनाथ सिह, तुलसी राम, गोबिन्द प्रसाद जैसे लेखकों, कमल मित्र चिनॉय, आनंद कुमार और सुभाष शर्मा जैसे प्रतिष्ठित चिंतकों, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, प्रो. गंगा प्रसाद विमल जैसे हिन्दी के वरिष्ठतम विद्वानों, जापानी से अनीता, जर्मनी से रामचन्द्र गुप्ता और स्पेनिश से मीनाक्षी आदि भाषाविदों द्वारा अनूदित रचनाएं, रचनात्मक लेखन में सक्रिय संदीप चटर्जी, रमेश चंद्र जोशी, सूर्य प्रकाश और कम्प्यूटर टेक्नोलॉजी से जुड़े गिरीशनाथ झा, गंगासहाय मीणा आदि ने अपने अपने योगदान से पत्रिका को गरिमा प्रदान करने का प्रयास किया है। गंगा ढाबा के बहाने छात्र संघ के पूर्व अध्यक्ष संदीप सिंह ने छात्र राजनीति को याद किया है। यहाँ हम जेएनयू के वीमेंस एसोसिएशन द्वारा चलाए जा रहे नर्सरी स्कूल के छात्रों की कुछ तस्वीरें भी दे रहे हैं, ताकि उनकी सृजनात्मकता सामने आए।

हमें प्रसन्नता है कि हमारे कुलपति एवं प्रतिष्ठित वैज्ञानिक प्रो. सोपोरी ने खुलकर अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसके लिए हम उनका आभार व्यक्त करते हैं। चार दशकों से विश्वविद्यालय प्रशासन से जुड़े यशवन्त सिंह और राजनीति वैज्ञानिक प्रो. सुधा पई ने अपने विचार और अनुभव साँझा किए हैं। अंत में हिंदी एकक, पत्रिका के संपादक मण्डल और प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े तमाम साथियों का आभार।

– वरयाम सिंह

बातचीत

जेएनयू का माहौल और खुली सोच यहाँ की ताकत है

सुधीर कुमार सोपोरी

प्रो. सुधीर कुमार सोपोरी जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के कुलपति होने के साथ–साथ एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक भी हैं। यहां प्रस्तुत है, उनसे नीरा भल्ला सरीन, देवेन्द्र चौबे, गणपत तेली और सुनीता की बातचीत के महत्वपूर्ण अंश।

विज्ञान के क्षेत्र में आपकी दिलचस्पी कैसे हुई?

बात उन दिनों की है, जब मैं स्नातकात्तर की डिग्री लेकर श्रीनगर से दिल्ली आया था। कभी सोचा था कि अध्यापक बनूंगा, लेकिन दिल्ली आकर कई जगह काम की तलाश की, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया और एल आई सी में भी प्रयास किया। नौकरी की ज़रूरत थी, पर कहीं कुछ नहीं मिला, सब जगह से ठोकर ही खायी। एक स्कूल में भी साक्षात्कार दिया था, पर 'ओवर क्वालीफाइड' कह कर मना कर दिया। संयोग से उसी समय दिल्ली विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. सतीश माहेश्वरी को शोधार्थी की जरूरत थी। मैं वहां पहुंचा और बातचीत के बाद उन्होंने कहा कि आप मेरी प्रयोगशाला ज्वाइन कर सकते हैं। मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ और मैंने उनसे शोध के बारे में बहुत कुछ सीखा। उनके साथ रहकर शोध और कार्य करने के प्रति एक लगन पैदा हुई। तो यह एक संयोग था।

जे.एन.यू. के बारे में आपने पहले ही सुन रखा होगा?

उन दिनों जे.एन.यू. नया–नया बना था। मेरी पीएच.डी. 1973 में पूरी हुई थी, यहाँ के जीवन विज्ञान संस्थान की स्थापना 1972 के आसपास हुई थी। और उस समय प्रो. शिप्रा गुहा मुखर्जी यहां थीं, जिन्होंने प्रो. माहेश्वरी के साथ ही पोस्ट डॉक्टरल शोध किया था। जब यहाँ पादप विज्ञान में पद आया, तो मैंने उन्हीं के कहने पर यहाँ आवेदन किया था। साक्षात्कार के बाद कुलपति जी. पार्थसारथी ने मुझे रिसर्च एसोसिएट के पद पर नियुक्त किया और एक साल बाद प्रगति देखकर मुझे सहायक प्रोफेसर बना दिया गया। मेरा जे.एन.यू से परिचय प्रो. माहेश्वरी और प्रो. मुखर्जी के जरिये हुआ। तब से यहाँ अपना कार्य कर रहा हूँ।

उन दिनों आपको जे.एन.यू का कैम्पस कैसा लगा?

उन दिनों यहाँ कैम्पस बना नहीं था। हमें कार्य करने के लिए पुराने जे.एन.यू. परिसर में जाना होता था। यहाँ सबसे अच्छा उस समय के विद्यार्थियों से संबंध लगा। एम.फिल–पीएच.डी. के पहले बैच में नीरा भल्ला सरीन, आलोक भट्टाचार्य आदि थे, वह काफ़ी होशियार बैच था। मेरा भी नया–नया पढ़ाने और शोध का अनुभव था। मुझे विद्यार्थियों से बहुत सीखने को मिला। आपस में सम्बन्ध ऐसे थे कि एक–दूसरे से सीखने को मिलता था। अच्छा माहौल था और स्वस्थ प्रतियोगिता थी, जिसमें काम करने में आनंद आता था।

हमने सुना कि आपके शुरुआती विद्यार्थियों में आपके कोई पूर्व शिक्षक भी थे?

हां, प्रो. एम.सी. शर्मा वे कश्मीर में मेरे अध्यापक थे। जब मैं पहली कक्षा लेने गया तो उन्हें कक्षा में देखकर घबराहट थी कि मैं पढ़ा पाउँगा कि नहीं, क्योंकि मुझे मेरे शोध विषय से इतर कोर्स पढ़ाने के लिए कहा गया था। तो, मुझे मेहनत भी करनी पड़ी। वे बहुत अच्छे व्यक्ति हैं, उन्होंने कभी जताया नहीं कि वो मेरे शिक्षक रहे हैं और मैं तो खैर, ऐसा कह ही नहीं सकता था। कभी –कभी ऐसी घटनाएं हो जाती हैं। लेकिन वे सभी के साथ चर्चाओं में भाग लेते थे। दोस्ताना माहौल था, रात्रि के ग्यारह बजे बाद सेमिनार का आयोजन होता था। सब लोग उनमें भाग लेते थे।

उस समय विज्ञान के किन नए क्षेत्रों को लेकर आप सब उत्साहित थे?

उन दिनों जो नये क्षेत्र जेएनयू में उभर कर आ रहे थे उनमें मोलिक्युलर बॉयोलॉजी, रेडिएशन, फोटो सिंथेसिस व न्यूरो–बायोलॉजी आदि खास थे। प्रो. आशीष दत्ता बाहर से मोलिक्युलर बायोलौजी पढ़कर आये थे। और भी सभी अपनी–अपनी ट्रेनिंग के बाद यहाँ आकर काम कर रहे थे। यहाँ का माहौल ऐसा बना हुआ था कि सभी अपना अधिक–से–अधिक योगदान विज्ञान के क्षेत्र में दे रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप कुछ अच्छे काम जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से निकलकर आये।

उस समय यहाँ के राजनीतिक माहौल में आप विज्ञान के शिक्षक होने के नाते कैसा महसूस करते थे?

उस समय विज्ञान के छात्र उससे प्रत्यक्ष रूप से नहीं जुड़ थे । परन्तु, एस.एफ.सी. में विद्यार्थियों की बहुत रुचि थी, जब एम.ए. शुरू हुआ तो विद्यार्थियों की राजनीति में दिलचस्पी बढ़ी। लेकिन उनके लिए राजनीति किसी एजेंडा के अतंर्गत नहीं थी बल्कि मैं सोचता हूं कि वह अकादमिक एक्टिविज्म था कि इस काम को करना ही करना है। जब हमने यहाँ काम शुरू किया तो सुविधाएँ बहुत ही कम थीं, उपकरण भी पूरे नहीं थे। विद्यार्थियों ने इन सामानों के लिए धरना–प्रदर्शन किया। मैं उस वक्त अकादमिक काउंसिल का सदस्य था। छात्रों की मांग पर तत्कालीन कुलपति ने एक कमिटी बनाई जिसमें मैं भी था। हम लोगों ने सोचा कि उपकरण कहाँ से मंगाएँ जा सकते हैं, क्योंकि उन दिनों में डॉलर की बहुत दिक्कत थी। फिर पूर्वी जर्मनी से उपकरण वगैरह मँगाए गये, क्योंकि वहां से रूपये में खरीदे जा सकते थे। मैं तो यह कहूँगा कि उस समय के विद्यार्थियों का बहुत सहयोग रहा और जितनी भी सीमित सुविधाएं थीं, उसी में उन्होंने अच्छा काम करके दिखाया।

उस समय विश्वविद्यालय में प्रो. मुनिस रज़ा, प्रो. नामवर सिंह, प्रो. योगेन्द्र सिंह, प्रो. बिपन चंद्रा आदि थे। क्या इन लोगों के साथ आपका किसी स्तर पर संवाद होता था?

प्रो. मुनिस रजा के साथ तो मेरा संपर्क रहा। 1974 में मैं कावेरी का वार्डन बन गया था और प्रो. रजा डीन ऑफ स्टूडेंट वेल्फेयर थे। मुझे कुलपति ने बुलाया और कहा कि आपको नये परिसर में जाना पड़ेगा। उस समय यहां कुछ था नहीं, तो उन्होंने कहा कि आपकी शादी नहीं हुई है, आप तो वहाँ गुजारा करो। उन्होंने चार वार्डन कावेरी में नियुक्त किए। कावेरी यहां का पहला छात्रावास था। उस समय पेरियार, गोदावरी, गंगा, झेलम, सतलज छात्रावासों का निर्माण चल रहा था। फिर धीरे–धीरे कैम्पस बनता गया। अभी यहाँ इतने पेड़ नज़र आ रहे हैं, उस समय यहाँ सिर्फ धूल ही थी। अन्य प्रोफेसरों से बहुत अधिक संपर्क नहीं रहा। हाँ, उन्हें सुनने का अवसर मिलता रहता था।

वह समय आपातकाल का समय था। हम लोग सुनते हैं कि उस समय कैम्पस में काफ़ी उफ़ान था। आप उस दौर को कैसे याद करेंगें?

यहाँ के कुछ लोग काफी सक्रिय थे। आपात्कालीन स्थिति में यहाँ के विद्यार्थियों की सक्रियता पर अंकुश लगाने का प्रयास किया गया। वह एक दौर था जिसे अलोकतान्त्रिक दौर कह सकते हैं। लेकिन वह दौर छोटा था, उसका ज्यादा प्रभाव हमारे विश्वविद्यालय पर नहीं रहा। मुझे खुशी है कि हमारी लोकतांत्रिक प्रक्रिया बनी रही और आज भी बरकरार है। व्यक्ति फैसला नहीं लेगा, सामूहिक फैसले लिए जाएंगे, यह जेएनयू में आज भी चल रहा है। जैसे छात्रसंघ, एसएफसी आदि यहाँ हैं। डीन आदि का कार्यकाल भी दो साल का कर दिया कि अध्यापक फैसले लेंगे, डीन और कुलपति उसे लागू करने के लिए हैं।

आप अपने कार्यकाल की शुरुआत से ही अंतरअनुशासनात्मक अध्ययन पर जोर दे रहे है। आपने इस पर व्याख्यान भी करवाये हैं। तो जीवन विज्ञान संस्थान की अंतराअनुशासनात्मक प्रवृत्तियों के बारे में तो आपने बताया। क्या ये प्रवृत्तियां उस समय अन्य संस्थानों और केन्द्रों में भी थीं?

जे.एन.यू की नींव ही अंतराअनुशासनात्मक दृष्टिकोण से रखी गई है और केवल जीवन विज्ञान ही नहीं, जे.एन.यू. के हर विभाग में यही विशेषता है। केवल अपने संस्थान और केन्द्र में बने रहने से नवीन विचारधारा का निर्माण नहीं होता है। हमें सीमित नहीं रहना है, अन्य अनुशासनों से संपर्क रखने की आवश्यकता है। जेएनयू में क्या हुआ कि अंतराअनुशासनात्मकता एक स्कूल तक ही सीमित रह गई। जैसे समाज विज्ञान में समाजशास्त्र, राजनीतिक विज्ञान, इतिहास आदि अध्ययन में तो अंतराअनुशासनात्मकता है, लेकिन विज्ञान में नहीं है। अपने अनुशासन के दायरे से बाहर झाँकने की जरूरत है। विभिन्न अनुशासनों के मिलने से ही नई धारणाएं सामने आएंगी।

आज जो काम जेएनयू में या आम तौर पर विज्ञान में हो रहा है और जीवन–समाज की जो जरूरतें हैं, इन दोनों पक्षों को आप कैसे देखते हैं?

देखिये, विज्ञान के दो पहलू हैं। पहला, फण्डामेंटल और दूसरा एप्लीकेशन अर्थात् जो ज्ञान मौजूद है, उसे समाज के भले के लिए कैसे काम में लिया जाएगा। पहला नया ज्ञान विकसित करने के बारे में है। जेएनयू में ज्यादातर नया ज्ञान विकसित करने का काम किया जाता है और यही विश्वविद्यालय का उद्देश्य भी है। लेकिन आप जो कह रहे हैं, वह बेहद जरूरी है कि उसे समाज की भलाई के लिए उपयोग में लाया जाय। कुछ काम तो उस तरह के चल रहे हैं जैसे रोगों आदि के बारे में। इस क्षेत्र में वैज्ञानिकों को मुश्किलें आती हैं, लेकिन यह जरूरी है कि हम समाज पर भी ध्यान दें।

डॉ. साहब, हमारे यहां का जो परंपरागत ज्ञान है, हम आपसे जानना चाहते हैं कि उसे आज का विज्ञान किस तरह से ले रहा है। क्या उसे विज्ञान की मुख्यधारा में शामिल किया गया है या एकदम अलग मान लिया जाता है?

जे.एन.यू. में तो इस पर काम नहीं हो रहा है, लेकिन कई और जगहों पर हो रहा है। जैसे कैंसर के इलाज में हल्दी, जीरा, अनार और नीम का प्रयोग हो रहा है। इसमें कोई दो राय नहीं हैं कि पारंपरिक ज्ञान से जुड़ी चीजें गुणकारी हैं, परन्तु, इन्हें वैज्ञानिक उत्पाद में बदलना थोड़ा मुश्किल होता है।

पेटेंट को लेकर विवाद भी हुए हैं, जैसे, बासमती, नीम आदि के बारे में...?

उसके लिए कई संस्थाएं जेनेटिक फिंगर प्रिंटिंग कर रही हैं ताकि हम बता सकें कि ये पौधा हमारे रिकॉर्ड में हैं और इनके बारे में आयुर्वेद आदि ग्रंथों में लिखा है।

जे.एन.यू. के विभिन्न विभागों में जो शोध और पाठ्यक्रम चल रहे है, उनके बारे में आपकी राय क्या है?

जे.एन.यू की व्यवस्था है कि यहां कोई तय पाठ्यक्रम नहीं रहेगा। पाठ्यक्रम बनाना संबंधित शिक्षक पर निर्भर करता है। वक्त के साथ बदलाव तो होना ही चाहिए। इस बात पर भी ध्यान देना है कि अध्यापक कैसे पढ़ाता है और विद्यार्थी कैसे ग्रहण करता है। आपको अध्यापन से ज्यादा सिखाने पर ध्यान देना चाहिए, यह तथ्य अध्यापक को जानना चाहिए। हम इस बात पर जोर दे रहे हैं कि पाठ्यसामग्री और पाठ्यपद्धति अद्यतन होनी चाहिए। नहीं तो जेएनयू, जेएनयू नहीं रहेगा।

1990 के बाद बदलाव तेजी से आया है, खासतौर से भाषा, साहित्य और समाज विज्ञान में। इसे आप किस रूप में देखते हैं?

हर एक विषय में ज्ञान की बढ़ोत्तरी हुई है, तो उसका प्रभाव तो पाठ्यक्रम में आना चाहिए। एक प्रशासक के रूप में मेरी कोशिश तो रहती है, लेकिन मैं तो सिर्फ कह सकता हूं, काम तो बोर्ड ऑफ स्टडीज और शिक्षकों को करना है। हां, हम निर्देश दे सकते हैं और मदद कर सकते हैं कि चीजें और बेहतर बनें।

शिक्षा के माध्यम का सवाल बहुत जटिल सवाल है। यहां पर छात्र देश के विभिन्न हिस्सों से आते हैं और उन्हें अंग्रेजी नहीं आती है, उन्हें काफी दिक्कत होती है। यह बात भी बार–बार सामने आती है कि मातृभाषा में अध्यापन मुश्किल काम है। आपकी क्या राय है?

मुझे इस बात की चिंता थी। इसी समस्या को ध्यान में रखते हुए हमने लैंग्वेज इम्पावरमेंन्ट सेल बनाई है कि जिन विद्यार्थियों की अंग्रेजी कमजोर है, उनकी मदद की जा सके। और यह बहुत सफल कदम साबित हुआ है। मेरी कई विद्यार्थियों से बात हुई है, उन्होंने बहुत कुछ सीखा है। इसी तरह का हमारा दूसरा कदम गणित, सांख्यिकीय और कम्प्यूटर कुशलता के लिए है, जिसे जनवरी से शुरू किया जा रहा है।

डॉ. साहब, प्रवेश परीक्षा के दौरान हमें एक और दिक्कत महसूस होती है। बहुत छात्र अंग्रेजी के सवाल नहीं समझ पाते हैं। हम प्रवेश परीक्षा में हिन्दी में जवाब देने का विकल्प रखते हैं, लेकिन प्रश्न–पत्र अंग्रेजी में होते हैं। हमारे सामने कोई विकल्प है?

देखिये, हिन्दी राजभाषा तो है, लेकिन इस मुद्दे पर जिस संवेदनशीलता की जरूरत है, वह अभी विकसित नहीं हुई है। वह एक समस्या है। कई विविधता वाले देशों ने इसे ठीक किया है। लेकिन, हम कम–से–कम इतना तो करें कि हिन्दी में बात करें। आजकल तो हिन्दी में बात करना भी पढ़े–लिखे नहीं होने की निशानी माना जाता है।

तो आपको लगता है कि मातृभाषाओं में पढ़ाया जाय तो बहुत फर्क पड़ेगा?

देखिये, किस भाषा में पढ़ाते हैं इससे फर्क नहीं पड़ता; बशर्ते कि उसमें सामग्री मिल जाय। जब तक प्रणाली नहीं बन जाती, तब तक समस्या होगी। कश्मीरी में आप पढ़ा दें, लेकिन पाठ्य सामग्री तो उस भाषा में होनी चाहिए। वैसे, समझाने में तो किसी भाषा का सहारा लिया जा सकता है। मैंने कुछ महीने मेरठ में पढ़ाया था, तो वहाँ के छात्र हिन्दी में समझाने के लिए कहते थे, मैं समझा देता था। फिर कोई दिक्कत नहीं होती थी।

शिक्षा पद्धति को लेकर चर्चा होती है कि हमने पहले शिक्षा का ढांचा यूरोप से लिया था और अब अमेरीका से ले रहे हैं। आपकी राय?

एक तरफ हमारे सामने अपनी भाषा में शिक्षण की प्रणाली बनाने की बात है तो दूसरी तरफ शिक्षा के अंतरराष्ट्रीयकरण का दबाव भी है। देखिये, हिन्दी या अन्य भाषाओं के माध्यम से कक्षाओं में समझाया जा सकता है, उसमें कोई दिक्कत नहीं है; लेकिन उन्हें शिक्षा का माध्यम बनाना संभव नहीं हैं। उसके लिए हमारे पास सामग्री तक नहीं है। मुझे दिक्कत यह नहीं कि आप किस भाषा में पढ़ा रहे हैं, मुद्दा है कि आप क्या पढ़ा रहे हैं, और उस पढ़ाई से उसे कितना मजबूत बना रहे हैं ताकि छात्र उस विषय में पारंगत हो सकें।

क्या हमारा सरोकार यह है कि जो छात्र अंग्रेजी नहीं जानते हैं, उन्हें समस्या न हो....?

उसके लिए तो लैंग्वेज इम्पॉवरमेन्ट सेल है ही। इसका नाम इंग्लिश एम्पॉवरमेन्ट सेल था। हमने उसे लैंग्वेज इम्पॉवरमेन्ट सेल करवाया। हो सकता है कि आने वाले सालों में हम उसमें हिन्दी भी शामिल करें क्योंकि कई छात्र, खासकर विदेशी छात्र हिन्दी सीखना चाहते हैं।

यह अलग तरह का सवाल है। फिर भी हम आपसे यह जानना चाहते हैं? जे.एन.यू. में ऐसा क्या है जो आपको बहुत अच्छा लगता है, और खराब क्या है, यह भी बताएं?

यहाँ बहुत कुछ अच्छा ही है। जेएनयू की बहुत सारी खासियतें हैं। दूसरे विश्वविद्यालयों में भी होंगी, पर यहां तो हैं ही। यहाँ का माहौल और खुली सोच इस विश्वविद्यालय की ताकत है। आपको कहने और सुनने की क्षमता मिलती है। यहाँ के

विद्यार्थियों और अध्यापकों के बीच एक संबंध हैं। मैं विद्यार्थियों से मिलता रहता हूं, तो विद्यार्थियों का पढ़ाई से लगाव और उनकी संभावनाएं पता चलती हैं। कई बार छोटी जगहों और पिछड़े तबकों के छात्रों से मिलना भावुकता भरा होता है। कई कहते हैं कि जेएनयू नहीं होता तो हम नहीं पढ़ पाते। तो ऐसी कई मिसालें हैं जेएनयू में। पिछले कुछ सालों में बाहर का समाज बदला है, अपराध हो रहे हैं। कई बार वे बीमारियां अंदर भी आ जाती है। यह होना नहीं चाहिए। हमें समाज की बुराइयों को अपनाना नहीं है, उन्हें खत्म करना है। जेएनयू में आपको विचार–विमर्श, बहस करना है, कीजिए। मैंने यही बात छात्रसंघ को भी कई बार बोली है कि कैंपस की शांतिभंग न हो, आपको जो आयोजन करना हो, करिए, मुझे कोई समस्या नहीं। मैं आपसे बात करूंगा, हर दिन करूंगा। दिक्कत है कि हमारी व्यक्तिगत मांगें बढ़ जाती हैं, लेकिन हम संस्था की मांग पर ध्यान नहीं देते हैं। जबकि जेएनयू की मांग है कि आप मुझे क्या बनाना चाहते हैं, यह वह कुलपति व प्रशासन से भी पूछेगा और छात्र, अध्यापक से भी।

आप भविष्य में जेएनयू की क्या भूमिका देखते हैं?

देखिये, हमें अपनी सोच संकीर्ण नहीं रखनी है। जेएनयू को अंतरराष्ट्रीय पटल पर लाना है। और ऐसा नहीं है कि यह नहीं हो सकता। मैं छात्रों और अध्यापकों से मिलता हूं, तो उनमें जबरदस्त क्षमताएं और संभावनाएं दिखाई देती हैं। हमें विभिन्न अनुशासनों की दीवारें तोड़नी होंगी तभी नई धारणाएं सामने आएंगी, और नई अकादमिक लहर बनेगी। जेएनयू को नेतृत्व भी करना और नेतृत्वकर्ता भी बनाने हैं। मैं छात्रसंघ से भी कहता हूं कि अगर आप राजनीति में आएं तो आप विज़नरी नेतृत्वकर्ता बनें, तभी हम समाज की सोच बदल पाएंगे। जेएनयू में यह क्षमता और संभावना है। हम ऐसा कर सकते हैं।

नर्सरी स्कूल के बच्चों द्वारा तैयार किया गया नववर्ष कार्ड

अपने घर में काम करने के लिए पुरस्कार नहीं

सौमित्र मुखर्जी

प्रो. सौमित्र मुखर्जी पर्यावरण विज्ञान संस्थान में प्रोफेसर हैं। यहाँ प्रस्तुत है, उनसे सुनीता की बातचीत के महत्वपूर्ण अंश।

आप देश के जाने–माने वैज्ञानिक है। आपकी शिक्षा कहाँ सम्पन्न हुई?

मैंने बी.एससी., एम.एससी. और पीएच.डी. तक की शिक्षा काशी हिंदू विश्वद्यिालय से ग्रहण की है। इस विश्वविद्यालय के संस्थापक और भूतपूर्ण स्वतन्त्रता सेनानी पंडित मदनमोहन मालवीय जी की जीवनी का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी शिक्षाओं और कर्मठ विचारों ने मुझे जीवन के पथ पर आगे बढ़ते रहने के लिए लगातार प्रेरित किया। उनके राष्ट्रप्रेम ने मुझे देश की उन्नति और विकास में अपना योगदान देने के लिए भावभूमि प्रदान की जिसे मैंने अपने जीवन में आत्मसात कर लिया। प्राथमिक स्कूल और विश्वविद्यालय के अध्यापकों के सकारात्मक और ऊर्जावान विचारों ने मुझे संघर्ष के कठिन दौर का सामना करने की शक्ति प्रदान की। मैं उन सब लोगों को तहे दिल से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मुझे यह सिखाया कि संघर्ष ही मुक्ति का माध्यम है।

आप जे.एन.यू. से पहले कहाँ कार्यरत थे? इसके बाद आपने कहाँ–कहाँ कार्य किया?

एम.एस.सी. के तुरन्त बाद मुझे पारिवारिक कारणों से नौकरी करनी पड़ी। मेरी पहली नियुक्ति केन्द्रीय भूमि जल परिषद में भू–वैज्ञानिक के पद पर कलकत्ता हेडक्वाटर में हुई थी, जिसके अंतर्गत मेरी कार्यशाला अंडमान और निकोबार द्वीप समूह थी। मुझे अंडमान और निकोबार द्वीप समूह में जाकर काम करने से स्वयं सीखने का अवसर मिला क्योंकि मेरा मानना है कि दूसरों की सहायता की तुलना में स्वयं सीखना ज़्यादा उपयुक्त और महत्वपूर्ण होता है। इससे आप किसी पर निर्भर नहीं होते हैं। आपके भीतर आत्मनिर्भरता का गुण स्वयं विकसित होता है। आपकी बुनियाद मजबूत बनती है। अंडमान–निकोबार द्वीप पर कार्य करने के उपरान्त मुझे सिक्किम भेजा गया। मुझे सुदूर इलाकों में काम करने से आनंद मिलता था क्योंकि इससे मेरे स्वयं सीखने की प्रवृति को बल मिल रहा था। इसके बाद मुझे सुन्दरवन जाकर काम करने का अवसर मिला। इस सबके बीच मुझे पीएच.डी. करने के लिए पुनः काशी विश्वविद्यालय जाना पड़ा। मैंने नौकरी से अवकाश लेकर और कभी नौकरी में रहते हुये अपने पीएच.डी. के कार्य को आगे बढ़ाया क्योंकि बारिश के दिनों में भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण कार्य नहीं किया जा सकता था। इसलिए उन ख़ाली दिनों का प्रयोग मैंने अपने शोध कार्य को दिशा देने के लिए किया। अन्ततः संघर्ष करते हुए मैंने वर्ष 1989 में अपनी पीएच.डी. की डिग्री ग्रहण की। इसी समय के अंतराल में मैंने रिमोट सेंनसिंग विभाग के अंर्तगत सुदूर संवेदन वैज्ञानिक का पदभार सँभाला, जिसमें हमारा हेडक्वाटर लखनऊ था परन्तु पहली पोस्टिंग झांसी में हुई। इसके बाद बुर्देलखंड क्षेत्र के भू–जल सर्वेक्षण का कार्य उपग्रहीय मानचित्र एवं भूभौतिकीय यन्त्रों द्वारा किया। इस पद पर मेरा कार्यकाल वर्ष 1989 से 1992 तक था।

आप जे.एन.यू. के पर्यावरण विभाग तक कैसे आये?

पीएच.डी. के उपरान्त मैं साक्षात्कार के लिए सितम्बर

में जेएनयू आया था। मुझे आज भी याद है कि यहाँ जो अभ्यार्थी मौजूद थे उनकी तुलना में मेरे पास अनुभव था, जिसके आधार पर मेरा चयन पर्यावरण विज्ञान संस्थान में हुआ। हमें अपने पारिवारिक संस्कारों और जीवन मूल्यों को नहीं त्यागना चाहिये। ये तत्व आपको सम्मानित और गरिमामय व्यक्ति बनाते हैं। इन्हीं तत्वों के बल पर आपकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। चालाक़ी से कोई बड़ा काम नहीं किया जा सकता है, अपितु बुद्धिमानी से जीवन में कोई भी बड़ा कार्य किया जा सकता है। इन्हीं संस्कारों की वजह से मैं आज जेएनयू में कार्यरत हूँ।

क्या वैज्ञानिक के रूप में अर्जित अनुभव से आपको जेएनयू के शोध कार्य में सहायता मिली?

हाँ, बहुत सहायता मिली। मैं अपने अर्जित अनुभव के द्वारा छात्रों को सरल और सुबोध भाषा में व्याख्यान देता हूँ ताकि उन्हें तुरन्त तथ्य समझ में आ जाये। उनमें स्वयं समझने और कुछ नया करने की प्रवृत्ति विकसित करने की चेष्टा करता हूँ। उदाहरण के लिए, छात्रों को चटट्ान के विषय में समझाते हुए, जेएनयू परिसर की चटट्ानों को नज़दीक से देखने का मशविरा देता हूँ जिससे कि विषय का गहन अध्ययन और उसके सूक्ष्म पहलुओं को देखा जा सके।

बीएचयू में पढ़ाई के दौरान या उसके बाद क्या आपको वैज्ञानिक विषयों पर हिंदी में संवाद सुनने का अवसर मिला। यदि ऐसा अवसर आपको मिला, तो वह कितना लाभप्रद रहा?

हाँ, मुझे बीएचयू और उसके बाद में वैज्ञानिक विषयों पर हिंदी में व्याख्यान सुनने को मिला। बीएचयू के अध्यापक विज्ञान विषय को अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ाते थे। लेकिन वे व्याख्यान के अंत में उसे सरल हिंदी में भी समझाते थे ताकि सभी विद्यार्थी विषय के सूक्ष्म भाव को समझ सकें। इसके अतिरिक्त विज्ञान के प्रश्न–पत्र हिंदी और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में बनाये जाते थे जिसके परिणामस्वरूप विद्यार्थियों को प्रश्न समझने में ज़्यादा आसानी होती थी। इसके साथ ही विश्वविद्यालय में वर्ष 1992 में 'विज्ञान और प्रौद्यौगिकी के नये आयाम' विषय पर संगोष्ठी का आयोजन हुआ था जिसमें सभी विद्वान वक्ताओं ने हिंदी में व्याख्यान दिया। मैंने भी कई जगहों पर विज्ञान की शाखाओं से सम्बन्धित विषयों पर हिंदी भाषा में व्याख्यान दिये हैं।

आजकल आपके और विद्यार्थियों के शोध के विषय क्या हैं?

यहाँ सुदूर संवेदन से प्राकृतिक संसाधनों के दोहन एवं सतत विकास' पर शोध कार्य चल रहा है जिसके लिए हमें नासा, भारतीय अंतरिक्ष संस्थान, भारतीय भू–वैज्ञानिक सर्वेक्षण संस्थान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग भारत सरकार, पर्यावरण एवम् वानिकी विभाग, नेशनल इनफोरमैटिक्स सेंटर प्लानिंग कमीशन भारत सरकार से सहयोग मिल रहा है। इसके अलावा मैं भारत के बड़े भू–भाग जिसमें दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, मध्य प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, जम्मू कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, अंडमान–निकोबार और समस्त पूर्वोत्तर राज्यों आदि की डिजिटल मैपिंग कर चुका हूँ। भारत सरकार की इन वैज्ञानिक शाखाओं से छात्रों को आर्थिक सहायता मिलती है। मेरे कार्यों के अनुभव से उनके शोध कार्य को गति और नयी दिशा मिलती है। इसके अलावा मैं 'वायोमिंग विश्वविद्यालय अमेरिका'(Wyoming University of U.S.A) के साथ भूमिगत जल की शुद्धता पर वैज्ञानिक शोध कर रहा हूँ।

एनसीईआरटी द्वारा विज्ञान की हिंदी में उपलब्ध पुस्तकों से आप किस स्तर पर जुड़े हैं? यदि नहीं जुड़े है तो इसका कारण क्या है? क्या इस शिक्षा संस्थान से आपका जुड़ना सार्थक होगा?

मैं उनके सम्पर्क में हूँ। शुरुआती दौर में बारहवीं कक्षा के सुदूर संवेदन के पाठ्यक्रम में शामिल था। मैं चाहता हूँ कि बच्चों को सरल और सुबोध भाषा में विज्ञान के गूढ़ रहस्यों को पढ़ाया जाये। ताकि उनमें

विज्ञान पढ़ने की रुचि पैदा हो सके। जिससे द्वारा हमारे देश के वैज्ञानिक भविष्य को उज्ज्वल बनाया जा सके। हमें विकासशील देश से विकसित देश बनने के लिए अपने बच्चों को विज्ञान पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। मुझे निकट भविष्य में इस शिक्षा संस्थान से जुड़ने का अवसर मिलेगा तो इसका परिणाम सकारात्मक होगा। इसके अलावा मैं तकनीकी शब्दावली आयोग से जुड़ा रहा हूँ। मैंने भू–विज्ञान पर मौलिक शब्दावली बनायी है।

भू–विज्ञान की शिक्षा अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से दी जा सकती है। ऐसे में आप जनसामान्य और किसानों से कैसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं?

यह बात सर्वदा सत्य है कि भू–विज्ञान की शिक्षा अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से दी जाती है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि हम शिक्षण करते समय हिंदी भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं क्योंकि कई बार हमारे छात्र ऐसे परिवेश से आते हैं जहाँ हिंदी भाषा में उसने विज्ञान की शाखा को पढ़ा होता है। इसलिए परिस्थितियों की नज़ाकत को समझते हुए, उसकी सुविधा के अनुसार हम भाषा का प्रयोग करते हैं। मेरा यह निजी मत है कि जिस तरह का माहौल होता है, हमारी अभिव्यक्ति उसी माहौल के अनुरूप होती है और होनी भी चाहिये। इस तथ्य के आधार पर किसानों और जनसामान्य को कभी पढ़कर, कभी बोल कर अपनी बात उन तक पहुँचाने का प्रयास हमलोग करते हैं। इस संदर्भ में अक्सर हिंदी भाषा, अन्य समुदाय की भाषा अथवा मिश्रित भाषा का प्रयोग करना जरुरी है।

आप किसी रिर्पोट अथवा दस्तावेज़ का वितरण किसानों के बीच किस भाषा के माध्यम से करते हैं?

हमारी यह कोशिश होती है कि दस्तावेजों का वितरण उस भाषा में किया जाये, जिसे किसान और जनसामान्य आसानी से समझ सके। इसके लिए हम राजभाषा हिंदी में लिखित दस्तावेजों का वितरण करते हैं। उदाहरण के लिए, बिहार के जिला बेगुसराय, गाँव 'समोदिरा' में हुए कृषक सम्मेलन वर्ष 1987 में 'भूमिगत जल के संवर्धन, दोहन और प्रयोग' विषय पर हमने हिंदी में लिखित लेख वितरित किया।

विषय की बाध्यता के बावजूद पर्यावरण की किस शाखा को हिंदी भाषा के माध्यम से पढ़ाया जा सकता है?

विज्ञान और पर्यावरण की सभी शाखाओं को हिंदी भाषा के माध्यम से पढ़ाया जा सकता है। आज हिंदी भाषा और उसके शब्दकोश को इतना मजबूत करने की आवश्यकता है कि उसमें विज्ञान से सम्बन्धित शब्द और सामग्री आसानी से सुलभ हो सके। इसके लिए हमें राजभाषा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है जिससे उसमें सम्मान और गौरव का भाव आ पाये।

आपको अध्यापक के रूप में पढ़ाते हुए कितने वर्ष हो गये हैं? विद्यार्थी और शिक्षक के रूप में शिक्षा के क्षेत्र में क्या बदलाव अथवा उतार–चढ़ाव आये हैं?

मुझे पढ़ाते हुए बीस वर्ष हो गये हैं। पढ़ाने से आनन्द और संतोष की प्राप्ति होती है। विद्यार्थियों के लिए विज्ञान और पर्यावरण से जुड़ी नवीन जानकारी और तथ्यों को जुटाता हूँ, जिससे छात्रों के ज्ञान को उच्च स्तर तक पहुँचा सकूँ। शिक्षा के क्षेत्र में आया बदलाव यह है कि जब से इंटरनेट आया है, छात्र सवाल कम पूछते हैं। इससे शिक्षक और छात्र के बीच संवाद का क्रम बाधित होता है। संवाद और प्रश्नों की गुज़ाइश कम ही बचती है। अब छात्र इंटरनेटवादी हो गया है। वह अपनी भ्रांतियों का समाधान पूछने के बजाये इंटरनेट पर देखना ज़्यादा उचित समझता है, यह मेरी चिंता का विषय है।

हमारे विश्वविद्यालय में हिंदी की स्थिति पर कुछ कहना चाहते हैं?

हमारे विश्वविद्यालय में हिंदी की स्थिति उत्तम है। यहाँ पर पूरे भारतवर्ष से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने

के लिए आते हैं। उनके बीच संवाद का माध्यम हिंदी और अंग्रेज़ी होती हैं। राजनीतिक दलों और वक्ताओं द्वारा हिंदी और अंग्रेज़ी में बोलने और लिखने का चलन हिंदी भाषा को मज़बूती प्रदान करता है। इसके अलावा प्रो. नामवर सिंह और प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने हिंदी भाषा के विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

यदि विज्ञान से जुड़े विषयों की व्याख्यानमाला रखी जाये तो क्या आप उससे जुड़ना चाहेंगे? यदि हाँ तो आपका प्रिय विषय क्या होगा?

बिल्कुल जुड़ना चाहूँगा। मेरा प्रिय विषय 'प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और समुचित प्रयोग' है जिसके आधार पर एक समन्वित विकास हो सके।

हमारे विश्वविद्यालय के पर्यावरण के बारे में आप लगातार सचेत रहे हैं। इस पर आपने कार्य भी किया है तथा इससे जेएनयू के पर्यावरण को बचाने में सहायता मिली है। इसे विस्तार से बताएंगे?

जब मेरी नियुक्ति जेएनयू में हुई थी, तब यहाँ जल की समस्या भयानक रूप ले चुकी थी। इस समस्या के निदान के लिए एक बार छात्रों ने तत्कालीन कुलपति प्रो. वाई.के. अलघ का घेराव कर दिया। इसी प्ररिपेक्ष्य में उन्होंने मेरा बायोडाटा देखा और बुलाया। उन्होंने मुझे कहा कि तुम इस विश्वविद्यालय में दशकों तक रहोगे। क्या विश्वविद्यालय के लिए कुछ कर सकते हो ? मैंने तुरन्त हामी भर दी। जबकि डॉ. हेनसन (अमेरिका) और केन्द्रीय भू–जल परिषद की रिर्पोट के आधार जेएनयू की जमीन में पानी नहीं था। इसके बाद मैंने भूमिगत जल स्तर को ऊँचा उठाने के लिए बारिश के पानी को संचित करने के लिए रूपरेखा तैयार की। मेरे पास संसाधन नहीं थे कि इस काम को आगे बढ़ा सकूँ। मैंने हार नहीं मानी और परिस्थितियों को देखते हुए कुलपति के माध्यम से डिपार्टमेंट ऑफ स्पेस के प्रो. यू.आर. राव को पत्र लिखवाया कि हमें उपग्रहिय मानचित्र दीजिए जिससे कि रेनवॉटर हार्वेस्टिंग के स्थान को चिंहित किया जा सके। इसके साथ ही अन्य भू–भौतिकीय वैज्ञानिक उपकरणों की आवश्यकता थी, जिन्हें मैंने केन्द्रीय भूमिजल परिषद के आर.के. प्रसाद के सहयोग से लिया। इन उपकरणों में रेज़िस्ट्विटी और मैग्नेटिक् शामिल थे। इसके बाद मैंने काम शुरू किया। हमने जेएनयू में तीन छोटे डैम बनाये। पहला डैम पश्चिमाबाद में, दूसरा केसी के पीछे और तीसरा डैम स्टेडियम के पीछे बनाया गया। इससे बारिश का पानी रिसकर जमीन के अंदर चला जाये और भूमिगत जल स्तर ऊपर आ जाये। मेरी यह परियोजना सफल रही। इसका उदाहरण आज का जेएनयू परिसर है, जहाँ पानी की कमी नहीं है। पहले पानी के अभाव में यायावर पक्षियों ने विश्वविद्यालय में आना बंद कर दिया था। जल संकट के निदान से वे फिर से विश्वविद्यालय में आने लगे हैं। ये पक्षी साइबेरिया से यहाँ आते हैं। पानी के होने से ईकोसिस्टम् उचित रहता है। यह दिल्ली का पहला रेन वॉटर हार्वेस्टिंग प्लान था। इसके बाद भूमिगत जल को उठाने के लिए इस तरह के परियोजनाएँ आई.आई.टी. और इंदिरा गाँधी ओपन विश्वविद्यालय आदि में शुरु की गयी है।

हमें मालूम है कि आप अपने उल्लेखनीय वैज्ञानिक कार्यों के लिए सम्मानित हुए हैं। उनके बारे में बताइये।

जिन्हें हमारे काम के बारे में पता नहीं है, उन्हें इसका लाभ मिलता है। सुखद लगता है। अपने घर में काम करने के लिए पुरस्कार की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रस्तुति : **सुनीता**

मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो जिसमें कि मैं कुछ अद्भुत बातें बता सकूँ।

– अमीर खुसरो

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

सुधा पई

प्रो. सुधा पई जानी–मानी राजनीति विज्ञानी और विश्वविद्यालय की रेक्टर हैं। इस बार अध्ययन कक्ष में प्रस्तुत हैं, उनके विचार।

हाल के वर्षों में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में कुछ चीजें आश्चर्यजनक रूप से बदली हैं। उदाहरण के लिए, आजकल भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के क्षेत्र में जो शोध हो रहे हैं, उसकी कुछ खास विशेषताएं हैं। एक तो यह है कि आजकल राजनीतिक संस्थाओं पर काम कम हो रहा है और राजनीतिक प्रक्रियाओं पर काम ज्यादा हो रहा है। निर्वाचन आयोग पर तो फिर भी काम हुआ है, लेकिन राजनीतिक संस्थाओं जैसे कि संसद, न्यायपालिका आदि पर काम नहीं हो रहा है। अस्सी के दशक में 'बिहेवियरलिज्म' के प्रभाव से संस्थाओं पर कम और राजनीतिक प्रक्रियाओं जैसे जाति, अस्मिता, चुनाव, राजनीतिक दल आदि – पर ज्यादा काम होने लगा। इससे हुआ यह कि संस्थाओं और सामाजिक बदलावों के बीच में जो संबंध थे और जो होने चाहिए, वे कुछ टूट गये। जैसे जब हम संसद के संकट पर बात करते हैं, तो यह नहीं देखते कि संकट संसद में भी है और समाज में भी है, क्योंकि संसद में समाज से ही लोग जा रहे हैं और उसका 'सोशल कम्पोजिशन' बदल रहा है। आज जब भी कोई तर्क दिया जाता है, तो वह संस्थाओं पर आधारित न होकर प्रक्रियाओं पर आधारित होता है। जैसे, मेरा ज्यादातर काम उत्तर प्रदेश पर है, जहां नब्बे के दशक में बहुत राजनीतिक अस्थिरता थी। उस विषय पर हुए कामों में दिये गए तर्क पूरी तरह से सामाजिक हैं कि पिछड़ी जातियां आई और समाजवादी पार्टी बनी, दलित उभार हुआ तो बसपा बनी, लेकिन किसी ने यह नहीं देखा कि विधानसभा साल में सिर्फ दस दिन चली या एक सप्ताह में बजट पास हो गया। तो कुछ ऐसी चीजें हैं भारतीय राजनीति में जिस पर बहुत ज्यादा और बढ़िया शोध हो चुका हैं और कुछ क्षेत्र हैं, जिन पर काम नहीं हुआ है।

इतना ही नहीं, राजनीतिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से देखें तो कृषि और वैश्वीकरण पर बहुत काम हुआ है, हालांकि औद्योगिक विकास पर कम हुआ है। आर्थिक सुधारों पर भी कुछ लोगों ने काम किया है, जैसे बलदेवराज नायर (मैक्गिल विश्वविद्यालय) ने वैश्वीकरण की राजनीति पर काम किया है। बहुत लोग यह सोचते हैं कि उदारीकरण आर्थिक परिघटना है, लेकिन यह राजनीतिक भी है क्योंकि नीतिगत निर्णय राजनीतिज्ञ करते हैं। उदारीकरण की राजनीति के क्षेत्र में भी अभी बहुत शोध बाकी हैं जैसे क्यों आर्थिक सुधार हुए, किसने इन्हें शुरू किया, कांग्रेस पार्टी की क्या विचारधारा है, नव उदारवाद का भारत में क्या चरित्र है आदि। भारतीय राज्य कल्याणकारी राज्य है या नव–उदारवादी राज्य है, सैद्धांतिक दृष्टि से भारतीय राज्य की वर्तमान स्थिति, इसे कैसे परिभाषित करें, राज्यों में आर्थिक सुधार आदि पर काम कम हुआ है। उदारीकरण को प्रायः सब लोग जानते हैं, लेकिन वह सब पश्चिम से आता है, इस पर देशज सैद्धांतिकी नहीं बनी कि यहां पर क्या हो रहा है और वास्तविक स्थिति क्या है। तो इस तरह से राजनीतिक अर्थशास्त्र में बहुत काम अभी करना है। यह राजनीतिक विज्ञान और अर्थशास्त्र का अंतराअनुशासनात्मक काम है। सार्वजनिक नीतियों पर–भूमिसुधारों से लेकर आज की कृषि नीति व औद्योगिक नीति आदि पर – काम

हुआ है कि नीतियां कैसे बनती है, लेकिन पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप जैसे एनएचएआई, जेएनएनयूआरएम आदि पर भी काम होना चाहिए। शोध के इस परिदृश्य में एक और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति यह देखते हैं कि आज ग्रामीण से ज्यादा काम शहरों पर हो रहा है। जैसे, पहले ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि–सुधार, पंचायत चुनाव आदि पर ज्यादा काम होता था, अब शहरीकरण पर ज्यादा होने लगा है। इसका कारण यह भी है कि पिछले कुछ सालों में शहरीकरण की प्रक्रिया बढ़ी है।

दरअसल शोध की प्रवृत्तियां हमेशा बदलती रही हैं, जैसे साठ–सत्तर के दशक में बड़े स्तर पर सैद्धांतिक और तुलनात्मक अध्ययन होते थे। बाद में, यह पाया गया कि इससे भारतीय स्थितियों का सही आंकलन नहीं हो पा रहा है, जैसे आन्द्रे गुन्ड्रे फ्रैंक की थीसिस सही नहीं निकली। फिर एक मिडिल रैंज थियराजिंग आया, इसलिए आज कुछ हद तक लोग केस स्टडीज ज्यादा करते हैं। केस स्टडीज की दो चुनौतियाँ होती हैं, एक तो उसमें तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता होती है। भारतीय राज्यों की राजनीति का तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है, बाहर जाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि इस मामले में भारत एक प्रयोगशाला है। आप गुजरात और उत्तर प्रदेश में तुलना कर सकते हैं कि एक जगह बीजेपी सफल है, तो यूपी में बाबरी मस्जिद गिराने के बाद भी क्यों असफल हो गई। कांग्रेस क्यों बिहार, मध्यप्रदेश और राजस्थान में रह गई, पर उत्तर प्रदेश में नहीं रही। दूसरी बात यह है कि जिस तरह के केस स्टडी हो रहे हैं, वे लगातार होने चाहिए, नहीं तो उस क्षेत्र में ज्ञान बढ़ नहीं पाएगा। यह जरूर शोध पद्धति की एक समस्या है कि बड़ा फलक लेना चाहिए या केस स्टडी करना चाहिए। राजनीतिक विज्ञान में यह समस्या अभी हल नहीं हुई है। दोनों तरह का काम होना चाहिए, पर दोनों में कुछ संतुलन होना चाहिए और केस स्टडीज ध्यान से करना चाहिए, ऐसा न हो कि वह 'आइसोलेटेड स्टडी' हो जाय।

मुझे यह भी लगता है कि जेएनयू एक जनरेशनल प्लेटफार्म होना चाहिए। जैसे शिकागो स्कूल ने आधुनिकता पर काम किया, उस तरह से यहां के अध्यापकों को शोध विकसित करना चाहिए, उससे पीएचडी पर प्रभाव पड़ेगा और छात्रों का उसमें प्रशिक्षण होगा। अभी सभी अलग–अलग हैं, अपना–अपना काम हो रहा है, लेकिन इससे भारतीय राजनीति की एक पूरी तस्वीर नहीं बन रही है और इसी वजह से देशज सैद्धांतिकी नहीं विकसित हो रही है कि भारत की क्या विशेषताएं हैं, और क्या विलक्षणताएं हैं। जैसे यहां की दल–व्यवस्था, न दो दलीय व्यवस्था है, न बहुदलीय, सब फ्रैग्मेंटेन्स हैं। इस पर मैंने बहुत पहले एशियन सर्वे में लिखा था कि भारत में दो दलीय या बहुदलीय व्यवस्था का होना आवश्यक नहीं है। यहां दलों के आधार क्षेत्रों में हैं, वहां से वे केन्द्र के लिए लड़ते हैं। संघात्मक ढांचे पर भी, हमारे यहां का संघवाद अमेरिका से अलग है। भारत की विलक्षणता प्रकट करने वाले काम ज्यादा होने चाहिए और यह तभी होगा जब इस पर पी.एच.डी. होगी और शिक्षकों के शोध भी होंगे।

मेरा काम उत्तर प्रदेश पर रहा है। उत्तर प्रदेश भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण राज्य है। जो भी वहां हुआ, वह देश की राजनीति में भी हुआ। सारे महत्वपूर्ण आन्दोलन उत्तरप्रदेश में हुए। बाबरी मस्जिद विध्वंस के जरिए हिन्दुत्व भी वहां दिखाई दिया। बीजेपी ने सबसे पहले वहीं प्रयोग किया। पिछड़ी जातियों के आन्दोलन भी वहीं सबसे ज्यादा हुए। दलित राजनीति का उभार भी उत्तर भारत में वहीं हुआ। उत्तर प्रदेश महत्वपूर्ण राज्य संभवतः इसलिए है कि वह हिन्दी का 'हार्टलैण्ड' है और वहां से अस्सी–पचासी सांसद लोकसभा में आते हैं। कहते भी हैं कि दिल्ली का रास्ता लखनऊ होकर निकलता है। इसलिए उत्तर प्रदेश के अध्ययन से भारतीय राजनीति के बदलाव बहुत हद तक समझ में आते हैं। एक और बात है कि जो घटनाएं दक्षिण और पश्चिम भारत में औपनिवेशिक काल में हुई थीं, जैसे अंबेडकर और अन्य गैर–ब्राह्मण आन्दोलन, वे सब आजादी के बाद हिन्दी क्षेत्र में हुई हैं। तो इसलिए हमें यहां इतनी अस्थिरता दिखाई दे रही है। अस्सी के बाद हर तरह के बदलाव वहां पर दिखाई दे रहे

हैं। इसलिए वहां के अध्ययन से बहुत सी बातें समझ में आती हैं। हिन्दी हार्टलैण्ड का बहुत महत्व है, अन्य राज्य भी महत्वपूर्ण हैं, जैसे महाराष्ट्र, तमिलनाडू, पश्चिम बंगाल आदि। वहां पर भी ये चीजें हैं, लेकिन उत्तर प्रदेश में कुछ विलक्षणताएं हैं।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के परिचय के लिए कुछ मुख्य पुस्तकें हैं, जैसे फ्रांसिस रांकलिन की किताब, जिसमें 1977 तक के भारतीय राजनीति के विकास का वर्णन है। यह बहुत अच्छी पाठ्यपुस्तक है और उसका संशोधित संस्करण भी आया है। अतुल कोहली की भी बहुत सारी किताबें हैं। जेएनयू से भी बहुत से विद्वानों की किताबें हैं, जैसे प्रो. जोया हसन ने मुस्लिम अल्पसंख्यकों पर लिखा है। अभी वेलेरियन रोड्रिग्ज की संसद पर एक बहुत अच्छी किताब 'दी इंडियन पार्लियामेंटः अ डेमोक्रेसी एट वर्क' आई है। इसमें यह चर्चा की गई है कि यह हमारी संसद का पतन है या यह कोई अलग तरह का मॉडल है, जिसे हमें समझना चाहिए। बलदेवराज नायर का उदारीकरण की राजनीति पर काम है कि अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार ने उदारीकरण अपनाया और आर्थिक सुधारों की तरफ गये क्योंकि वे उस वक्त जिम्मेदार राजनीतिक दल बनना चाहते थे और बाबरी मस्जिद कांड आदि से पीछा छुड़ाना चाहते थे। टेलिकॉम पर राहुल मुखर्जी का काम है। भारतीय संविधान पर मॉरिस जॉन्स , ग्रानविले ऑस्टिन (दी इंडियन कान्स्टीट्युशनः कॉर्नरस्टॉन ऑफ अ नेशन) आदि के काम है। प्रो. गोपाल गुरू की किताब 'ऑन हुमिलिएशन' भी महत्वपूर्ण है। वैसे आजकल हैण्डबुक्स भी बहुत–सी निकल रही हैं, एक 'ऑक्सफॉर्ड कंपेनियन टू पॉलिटिक्स इन इंडिया' (सं. नीरजा गोपाल जयाल और प्रताप भानू मेहता) निकली थी, उसमें विभिन्न विषयों पर लेख हैं। रीडर्स भी बहुत सारी निकली हैं, ये रीडर्स भी बहुत उपयोगी हैं, क्योंकि वे विषयवार संकलन हैं। ये रीडर्स उन पाठकों के लिए ज्यादा उपयोगी हैं, जो राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र के नहीं हैं। वैसे भारतीय राजनीति को समझने के लिए अखबार जरूर पढ़ना चाहिए। साथ ही, 'इकॉनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली' (ईपीडब्ल्यू) भी पढ़ना चाहिए, जिसे जेएनयू के सामाजिक विज्ञान के सभी लोग पढ़ते हैं। समकालीन मुद्दों पर उसके पहले भाग में बहुत सटीक विश्लेषण होता है।

प्रस्तुति : **गणपत तेली**

रचनाएँ आमंत्रित हैं

जेएनयू परिसर के लिए रचनाएँ आमंत्रित हैं। कृपया अपने लेख, कहानी, कविता, समीक्षा आदि कृतदेव–10 फोंट में हार्ड कापी सहित निम्नलिखित पते पर मेल करें : संपादक, ***जेएनयू परिसर***, हिंदी एकक, 301, प्रशासनिक भवन, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली–110067, फोन नंः 011 26704023

मेल : jnuparisar@mail.jnu.ac.in और hindiunit@mail.jnu.ac.in

हिंदी का भविष्य

गंगा प्रसाद विमल

पाठ्यक्रम संवाद जेएनयू परिसर की तरफ से शुरू किया गया एक संवाद है जिसमें महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जा रहे पाठ्यक्रमों पर विचार किया जाएगा। इस बार हिंदी भाषा और साहित्य के पठन–पाठन को लेकर प्रसिद्ध लेखक प्रो. गंगा प्रसाद विमल और मार्क्सवादी आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय के विचार दिये जा रहे हैं।

हिन्दी विश्व की बड़ी भाषाओं में एक है और विश्व भाषा के रूप में पहले से ही विभिन्न देशों में प्रयोग में आ रही है। ऐसा नहीं कि आज़ादी के बाद से हिंदी विश्व में फैली है। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि भारतवंशी जब भी अपने देश से बाहर किसी अन्य क्षितिज की ओर गये हैं, बहुभाषी होने के कारण जब भी वे इकट्ठे होकर मिलते रहे तो परस्पर संवाद के लिए हिंदी का चयन करते रहे हैं। ऐसी निर्विकल्प स्थिति भारत में भी देखने को मिल सकती है। एक और तथ्य जिसे छिपाना नहीं चाहिए, स्वभाषाओं के प्रति मोह अदेखा ही रह जाता है और वह है उनके हृदय में या मनोलोक में गहरे निर्वासित आस्था या कहे भारतीय जीवन दृष्टि का पक्ष अर्थात् यदि वे देश से बाहर हैं तो भारतीयों की एक बड़ी पहचान उत्सव प्रियता है। उत्सव प्रियता में आनुष्ठानिक कार्यों के लिए स्वभाषा का प्रयोग किया जाता है। 'प्रार्थना या संस्कार' मंत्र इन्हें आप विजातीय भाषा में कभी भी उच्चरित नहीं कर सकते। यह मामला अंध श्रद्धा का नहीं, गहरी निर्वासित श्रद्धा का है। इसके लिए आपको स्वभाषा अर्थात् हिंदी का प्रयोग करना पड़ेगा। अतः हिंदी को राज्याश्रय 1950 के बाद मिला हो, उसे राज्याश्रय से भी बड़ी चीज़ लोकाश्रय कुछ सौ सालों से भी पहले प्राप्त था। निष्कर्ष यह है कि हिंदी लोक व्याप्ति की भाषा है अर्थात् लोकनीति की भाषा है, राजनीति की नहीं। आज जब भाषाओं पर राजनीति हो रही है तब इस बात से डरना नहीं चाहिए कि राजनीति के कारण बाज़ार या प्रशासन का दबदबा बढ़ेगा। यह दबदबा लोकनीति को नहीं दबा सकता। इस आलोक में ही हिंदी का भविष्य देखना चाहिए। जिन लोगों को अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूल देखकर डर लगता है, वे लोग अंग्रेजों के जमाने के रायबहादुर मालूम पड़ते हैं। भाषा की शक्ति लोक है, राजनीति नहीं। बढ़ने दो अंग्रेज़ी स्कूल। वह भी भारतीयता या फिर भारतीय भाषाओं को बढ़ायेगा।

हिंदी की शिक्षा हिंदीत्तर और भारतेत्तर क्षेत्रों में अनेक कारणों से धीमी रफ्तार से बढ़ रही है। एक तो जो भारत के बारे में गहरायी से जानना चाहते हैं। वे इस बहुलता के देश में अपने भविष्य में कुछ करने के लिए आना चाहते हैं तो उन्हें हिंदी सीखनी पड़ेगी। हिंदी शिक्षा का यह कार्य भारत के राष्ट्रीय उन्मेष के कारण भी बढ़ता है। सच तो यह है कि भारतवंशी, भारत से बाहर अपनी प्राथमिक शिक्षा तक हिंदी का प्रयोग करना अनिवार्य समझते हैं। परन्तु भारत के हिंदीत्तर क्षेत्रों में हिंदी की स्वीकृति के कारण अलग है। जिस तरह पंजाबी, राजस्थानी, पहाड़ी, हरियाणवी, गुजराती, मराठी आदि बोलने वाले को सहज भाव से हिंदी का कामचलाऊ ज्ञान है। उसकी अपेक्षा तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, उड़िया आदि क्षेत्रों के लोगों को सप्रयोजन हिंदी सीखनी पड़ती है। यह काम सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर भी होता है। गैर सरकारी स्तर पर यह कार्य (प्रभावकारी) होता है। दक्षिण एशिया के पाकिस्तान, नेपाल, म्यांमार, बाग्लादेश आदि में हिंदी या हिन्दुस्तानी समझने वाले विपुल मात्रा में हैं। इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण एशियाई देशों में हिंदी का बोधात्मक ज्ञान यदि शिक्षा के माध्यम से प्राप्त होता है, तो वह मानक ज्ञान कहा जायेगा। अतः शिक्षा में मानक और अमानक ज्ञान की तुलना करनी पड़ेगी। तथापि भारत से बाहर जिस गति से हिंदी बढ़ रही है उससे लगता है कि अब द्वितीय भाषा शिक्षण के लिए बहुत लोगों को तैयार करना पड़ेगा। दृष्टांत के लिए आस्ट्रेलिया को लें, वहाँ व्यापक स्तर पर विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में हिंदी शिक्षण के बन्दोबस्त हो रहे हैं।

हिंदी शिक्षण की अनेक रीतियाँ हैं। भारत में उन सबका प्रयोग किया जाता है। अभी तक भाषाविदों ने किसी एक पद्धति को सर्वमान्य स्वीकृति नहीं दी है। इससे

भारत के भाषाविद् शर्मसार नहीं होते तो कहना चाहिए भारतवर्ष में बहुत ही ज़्यादा बेशर्म भाषाविद् हैं। यह आरोप विद्वानों पर इसलिए लगाया जा रहा है कि उन्होंने कभी भी भारतीय भाषाओं और हिंदी के प्रति सकारात्मक दृष्टि का विकास नहीं किया है। वे बुरी तरह अंग्रेज़ी की तरफ़ झुके हुए ज्ञानी हैं, जो ज्ञानाधिकार में डूबे जन्तु हैं। जिनकी तुलना मल के ढेरों में सुखद स्थिति को प्राप्त सुअर से ही की जा सकती है क्योंकि शायद ही किसी भाषाविद् ने हिंदी शिक्षण की आसान पद्धति को कभी कहीं प्रस्तावित की हो। हिंदी पढ़ाने वाले अध्यापकों की गति तो दुर्गति की सीमाओं को पार कर चुकी है। इस पर बहस फिर कभी अभी फौरी तौर पर हिंदी शिक्षण के नये अभियान जारी होने चाहिए।

हिंदी का भविष्य केवल इस एक कल्पित आधार से देखा जा सकता है कि स्वंय इंग्लिस्तान में एशियाई लोगों के बीच अंतरसंवाद के लिए हिंदी का प्रयोग होता है। चिंता यह करनी चाहिए कि हिंदी में सर्वोत्तम रचा जाये ताकि अनुवाद के मार्फ़त ही सही लोगों तक हिंदी का ज्ञान पहुँचे। भारतवर्ष के ज़्यादातर एम.ए. उपाधि प्राप्त ज्ञानियों को देखकर यही लगता है कि हिंदी पढ़कर क्या बुद्धि के तमाम दरवाज़े बंद हो जाते हैं। वे अकेले दोषी नहीं हैं। विश्वविद्यालयों और विद्यालयों में मोटी पगार डकारने वाले अध्यापक दोषी ही नहीं अपराधी भी हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास को ही लें, दो कौड़ी के इतिहास को ही ले दो–दो कौड़ी का इतिहास पूरी बींसवीं शताब्दी में पढ़ाया गया है। इक्कीसवीं शताब्दी में भी उससे मुक्ति नहीं मिली। मेरे गुरु पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक साक्षात्कार में, यदि रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास लिखना पड़ता तो आप कैसे लिखते – प्रश्न का उत्तर दिया कि रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास वे ही लिख सकते थे, और शालीनतावश उस आधार सामग्री की ओर संकेत करते हुए, उन्होंने कहा था कि इतने कम ग्रंथों की प्राप्ति पर इतिहास लिखना सम्भव नहीं था। शालीनतावश अपने गुरु को चुनौती देने की बजाय उन्होंने एक साफ़ सुथरा हिंदी का आदिकाल सम्बन्धित प्रस्ताव प्रस्तुत किया। हिंदी के बड़े–बड़े घौचू लेखक न कभी इन चुनौतियों के सामने आये और न अपने पूर्वांचल प्रेम को छुपा पाये। सारा का सारा हिंदी साहित्य पूर्वांचलाभिमुखी है। इस मिथक को तोड़ना चाहिए था। नयी सामग्री अधिग्रहीत कर कुछ नये निष्कर्ष विद्यार्थियों के मस्तिष्क में जमाने चाहिए थे ताकि वे नये प्रश्न करें और साहित्य के अध्ययन की रोचक प्रणाली विकसित हो। यहाँ केवल संकेत में इतना ही पर्याप्त है कि हिंदी का पाठ्यक्रम बहुत ही अरोचक है। साथ ही साथ वह मात्रा में बहुत कम है। विद्वजनों को बैठकर नयी पाठ्य सामग्री तटस्थ होकर बना लेनी चाहिए। बहुधा पाठ्क्रम तैयार करने वाले पाठ्य सामग्री देखकर ही पाठ्क्रम तैयार करते है। आवश्यकता है कि हम विपुल मात्रा में अद्यतन सामग्री से विधार्थी का सामना करायें और अद्यतन सामग्री के बहाने ही अतीत विशेषकर लोकभाषाओं की व्याप्ति का व्यापक अध्ययन करें। उपलब्ध पाठ्यक्रम न तो नयी शिक्षण शैली विकसित करने में सहायक है, न मन मस्तिष्क में नये प्रश्नों को उभारने की शक्ति से सम्पन्न है।

गंम्भीर होकर इक्कीसवीं शताब्दी के विद्यार्थी को साहित्य के मूल पाठों का व्यापक प्रशिक्षण देना चाहिए। राजनीति प्रेरित दृष्टि से बचना ही नहीं चाहिए, बल्कि उसका बहिष्कार होना चाहिए, क्योंकि ऐसी दृष्टि ने अरोचक पाठ्य सामग्री का जमावड़ा विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत कर दिया है। भाषा का वैज्ञानिक परिज्ञान और साहित्य का बहुअर्थी संचयन इस दिशा में अनिवार्य लगता है।

हिंदी विद्यार्थी को हिंदी की सहभाषाओं का साहित्यिक परिदृश्य परिपूर्ण रूप से स्पष्ट होना चाहिए। अतः यह सुझाव भी असंगत नहीं होगा कि हिंदी की जड़े जिस तरह भारतीय भाषाओं से पोषित हुई हैं, उसका ज्ञान भी छात्रों को मिलना चाहिए। साथ ही साथ, स्नात्कोत्तर स्तर पर तुलनात्मक साहित्य शास्त्र का आधार भी छात्रों के सम्मुख हिंदी की भावी दिशाओं के रूप में रखकर इसी कड़ी की सबलता प्रदान करना होगा।

प्रस्तुति : **सुनीता**

हमें अपना राष्ट्रीय कार्य, अपना सार्वजनिक अथवा निजी कार्य जहां तक संभव हो सके अपनी विभिन्न भाषाओं में तथा विशेषतः उस भाषा में करना है जिसे आप सारे भारत में प्रयोग के लिए चुने।

– जवाहरलाल नेहरू, संविधान सभा में

हिंदी भाषा और साहित्य को समकालीन रचनाशीलता से जोड़ना जरूरी है

मैनेजर पाण्डेय

भूमंडलीकरण के कारण हिन्दी भाषा की स्थिति बिगड़ी भी है और बनी भी है। बिगड़ी इस अर्थ में है कि जहां पहले हिन्दी में संस्कृत के शब्द भरे जाते थे और हिन्दी अबूझ हो जाती थी, अब उसमें अंग्रेजी शब्द भरे जा रहे हैं और फिर हिन्दी अबूझ होती जा रही है। इन दोनों स्थितियों का एक ही नतीजा है– हिन्दी की स्वाभाविकता का नाश। दूसरी बात यह है कि हिन्दी गंभीर स्तर पर केवल साहित्य की भाषा होकर रह गई है। उसमें समाज विज्ञान से संबंधित सोच और लेखन का विकास नहीं हो रहा है। संसार की कोई भी भाषा केवल साहित्य की भाषा बनकर सशक्त और प्रभावशाली नहीं रह सकती। इसलिए हिन्दी के विकास के लिए यह जरूरी है कि उसे विज्ञान और समाज विज्ञान के सोच–विचार की भाषा भी बनाई जाए।

भूमंडलीकरण के कारण जहां तक हिन्दी के बनने का सवाल है तो जहाँ एक ओर हिन्दी के अखबारों और पत्रिकाओं का विकास बहुत हुआ है तथा इससे हिन्दी भाषा के पहुंच का दायरा व्यापक हुआ है। तो दूसरी ओर बाज़ार की भाषा के रूप में भी हिन्दी का प्रयोग बढ़ा है।

लेकिन अपने देश की जो शिक्षा–व्यवस्था है, उसमें हिन्दी के लिए जगह कम हो रही है और अंग्रेजी के लिए जगह बढ़ी है। चूंकि भूमंडलीकरण की भाषा अंग्रेजी है, इसलिए अंग्रेजी हिन्दी के साथ–साथ सभी भारतीयों भाषाओं की छाती पर सवार है। जब देश और समाज में प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होगी तो लोग न तो हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं को न जानेंगे और न ही भारतीय भाषाओं से प्रेम करेंगे और न उन्हें ज्ञान का माध्यम बनायेंगे।

जहां तक हिन्दी साहित्य के वर्तमान स्थिति का सवाल है तो यह अच्छा भी है और बुरा भी। अच्छा इस अर्थ में कि हिन्दी में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना का लेखन लगातार हो रहा है। जो कुछ लिखा जा रहा है वह पत्रिकाओं, अखबारों और पुस्तकों के रूप में लोगों के सामने भी आ रहा है। उसके सामने लोग अपनी राय भी बना रहे हैं। लेकिन कठिनाई यह है कि हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य दोनों शहरी मध्यवर्ग तक सीमित हो गए हैं। व्यापक भारतीय जनता की आशाओं, आकांक्षाओं, संकेतों, समस्याओं, दुविधाओं और सुविधाओं से अलग हटकर आज का हिन्दी साहित्य मध्यवर्ग की ज़िन्दगी की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं तक सीमित हो गया है। इसलिए कभी–कभी कुछ लेखक हिन्दी की व्यापक जनता के बीच पहुंच और लोकप्रियता के कम होने की शिकायत करते हैं। लेकिन उनके कारणों की जांच–परख और सुधार के प्रयास नहीं करते।

आज अधिकांश विश्वविद्यालय और महाविद्यालय के हिन्दी विभाग हिन्दी साहित्य की कब्रगाह बन गए हैं। उनमें न तो समकालीन हिन्दी भाषा और साहित्य की जीवंत प्रक्रिया है और न ही उससे हिन्दी के पाठ्यक्रमों और अध्यापन की पद्धतियों का कोई संबंध रह गया है। कुछ विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम अच्छे हैं, आधुनिक भी और समकालीन भी। पर, संसार के किसी भी अच्छे पाठ्यक्रम को खराब अध्यापक आसानी से नष्ट कर सकते हैं और कर रहे हैं। इसलिए पाठ्यक्रमों में सुधार के साथ ही अध्यापकों की मानसिकता और पढ़ाने की क्षमता में सुधार भी

ज़रूरी है। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक योजना चला रखी है जिसे अंग्रेजी में 'रिफ्रेशर कोर्स' कहा जाता है और उसका हिन्दी अनुवाद कभी नामवर सिंह ने 'पुनर्नवा पाठ' किया था। मैं विभिन्न विश्वविद्यालयों के पुनर्नवा पाठ के कार्यक्रमों में जाकर इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि एकाध अपवादों को छोड़कर वहां भी वही होता है जो ज्ञान और दृष्टि के मामले में हिन्दी विभागों में होता है।

दरअसल, हिन्दी के पाठ्यक्रमों को तीन स्तरों पर सुधारना जरूरी है; एक तो उसे हिन्दी साहित्य की समकालीन रचनाशीलता से जोड़ना जरूरी है। दूसरे, हिन्दी साहित्य के अध्ययन–अध्यापन को व्यापक भारतीय साहित्य की रचनाशीलता से जोड़ना आवश्यक है; और तीसरा, रचना और आलोचना के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जो कुछ नया हो रहा है उससे भी जोड़ना जरूरी है। यह काम तभी संभव है जब हिन्दी के अध्यापक इन बातों के बारे में सजग और चिंतित हों। अन्यथा, छात्र और छात्राएं तो विभागों की कैदी की तरह होते हैं जिन्हें अध्यापक जो कुछ देगा, ज्ञान और दृष्टि के स्तर पर छात्रों को उन्हीं सबको लेना पड़ता है।

प्रस्तुति : **संदीप सौरभ**, शोधछात्र, भारतीय भाषा केन्द्र

लेखक की दुनिया

'मुर्दहिया' ने मुझे लेखक बनाया

तुलसी राम

परिसर के इस स्तम्भ में जेएनयू के लेखकों की रचनात्मकता और उनकी सृजन प्रक्रिया पर सामग्री दी जाएगी। 'मणिकर्णिका' प्रसिद्ध राजनीति विज्ञानी और लेखक तुलसी राम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' का दूसरा भाग है। यहां उसके कुछ चुने हुए अंश हम 'जेएनयू परिसर' के पाठकों के लिए दे रहे हैं। 2010 में प्रकाशित उनकी 'मुर्दहिया' ने लेखन के क्षेत्र में जो अपार लोकप्रियता हासिल की है, उसी का नतीजा है कि आज देश के चालीस से अधिक विश्वविद्यालयों में उस पर शोध कार्य हो रहे हैं। इसे हिंदी और भारतीय साहित्य के पाठकों ने गंभीरता से लिया है। इसी आत्मकथा पर इन्हें 2011 का 'अयोध्या प्रसाद खत्री सम्मान' भी प्राप्त हो चुका है। खास बात यह है कि हिन्दी की महत्वपूर्ण पत्रिका 'तदभव' ने इस आत्मकथा का प्रकाशन अपने कई अंकों में किया है।

किसी भी लेखक के लिए आत्मकथा की रचनात्मकता पर बात करना बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। मेरी आत्मकथा लिखने की पहले से नियोजित कोई योजना नहीं थी। यह बस एक संयोग था कि 1857 की 150वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में 2007 में लखनऊ में तद्भव के संपादक अखलेश ने कुछ लिखने का आग्रह किया और आत्मकथा लिखने का सुझाव देते हुए चार या पाँच दिन का समय देते हुए कहा कि तद्भव पूरी तैयार है। चार या पाँच पेज शेष बचे हैं, कुछ लिख दीजिए।

अतः आत्मकथा की रचना प्रक्रिया शुरू हो गई, एक कोशिश के रूप में मेरा पहला प्रयोग सफल रहा। इसकी लोकप्रियता से मैंने इसे पूरा करने की योजना बनाई। मैंने राहुल सांकृत्यायन की पाँच भागों में लिखी आत्मकथा पढ़ी थी, इसमें अभिव्यक्त, सांस्कृत्यायन के व्यक्तित्व के साथ–साथ समाज, संस्कृति, इतिहास, भूगोल राजनीति आदि के विवरणों ने मुझे प्रभावित किया था।

दूसरी आत्मकथा बुद्ध की पढ़ी थी 'बुद्ध चरित'। इसके रचनाकार अश्वघोष थे। इसमें अश्वघोष की सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि ने प्रभावित किया। आधुनिक आत्मकथाओं में विशेष रूप से दलित आत्मकथाओं में महाराष्ट्र के दया पवार की आत्मकथा 'बलूत' ने प्रभावित किया। इसने भारतीय दलित साहित्य में आत्मकथा विधा को विकसित किया। दलित आत्मकथाओं ने जितनी रुचि पैदा की, अन्य आत्मकथाओं ने नहीं।

पहले अध्याय की सफलता के बाद एक दिन संयोग से राजकमल प्रकाशन के डायरेक्टर अशोक माहेश्वरी से मुलाकात हुई। उनके निरन्तर आग्रह पर और इसकी लोकप्रियता को देखते हुए इसे पूरा करने की योजना बनाई। यद्यपि मैं समझता था कि आत्मकथा एक नीरस विधा होती है, यह किसी भी व्यक्ति के जीवन की अन्तिम रचना होनी चाहिए। परन्तु, ऐसा नहीं है। यदि सौन्दर्यशास्त्रीय विधा का इस्तेमाल किया जाए तो साहित्य को हम एक अच्छी विधा दे सकते हैं। इतना ही नहीं, अपने दृष्टिकोण से समाज में जो चल रहा है, जो गतिशीलता है, उसे एक कोण पर खड़ा होकर कैसे देखा जा सकता है ? आत्मकथा लिखते समय यही मेरी सोच थी।

किसी भी रचना का शीर्षक तय करना सृजनात्मक प्रक्रिया का मुख्य हिस्सा होता है। मेरे गाँव के किनारे पर एक खाली स्थान था, यह 'मुर्दहिया' कहलाती थी। मुर्दहिया में पशुपक्षियों से लेकर मनुष्य तक को फेंका व जलाया जाता था, अतः यह सबका मुक्ति स्थल था। इसका महत्त्व इसलिए भी था, कि मेरे गाँव के प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक गतिविधि यहाँ से होकर गुजरती थी। स्कूल जाना हो, बस पकड़नी हो, जंगल जाना हो, घास काटने जाना हो या फिर

खेतीबाड़ी करने जाना हो सभी रास्ते यहाँ से होकर गुजरते थे। सियार, गिद्ध, पशु, पक्षी आदि सभी के बावजूद वह गाँववासियों के जीवन का एक अभिन्न हिस्सा थी। अतः यह हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गई। यही कारण है कि मैंने अपनी आत्मकथा के पहले भाग का नाम 'मुर्दहिया' रखकर इसे सौन्दर्यशास्त्रीय पुट देने का प्रयास किया।

दूसरा भाग लिखते समय संयोग से मुझे अपनी वह यात्रा याद आयी जो आजमगढ़ से बनारस तक थी, मुर्दे को ले जा रही यह बस हमारी बस के आगे चल रही थी जिसमें लिखा था 'स्वर्गवास मेल', यह बस मुर्दे को बनारस के प्रसिद्ध मणिकर्णिका घाट ले जा रही थी, इसी के साथ मेरी भी यात्रा पूरी हुई। इस 'मणिकर्णिका' और मुर्दहिया में मुझे एक साम्यता नज़र आयी। इसी साम्यता को ध्यान में रखकर मैंने आत्मकथा के दूसरे भाग के प्रथम अध्याय का नाम 'मणिकर्णिका' रख दिया।

मुझे याद है, बचपन में ही गाँव के स्कूल में नवीं कक्षा में एक पुस्तक 'फाइटर्स ऑफ फ्रीडम' पढ़ने को मिली थी। इस पुस्तक में काफी लोगों के विषय में अच्छे लेख थे जिसका पहला अध्याय बुद्ध के जीवन पर था। उसमें पीपल के पेड़ के नीचे ज्ञान प्राप्ति से लेकर उनके सम्पूर्ण जीवन का पूरा वर्णन था, जिसका निष्कर्ष था, 'जीवन में दुःख है, दुःख का कारण है और उसका निवारण भी है।'

पीपल के पेड़ से बुद्ध का जो सम्बन्ध था, मेरा भी कुछ ऐसा ही सम्बन्ध था पीपल के पेड़ से। उस पर बैठे हजारों गिद्ध, उसकी छाँव प्रभावित करते थे। ये सब एक चलचित्र की भाँति मेरे मस्तिष्क में घूमने लगते थे। यह दृश्य रोचक होता था, तब से बुद्ध को और अधिक जानने और अधिक पढ़ने की लालसा जागी, परन्तु पढ़ने का मौका आजमगढ़ जाकर मिला, और बुद्ध मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गए। तब से आजतक बुद्ध की सैकड़ों किताबों का अध्ययन कर चुका हूँ। इसमें त्रिपिटक भी शामिल हैं जिसे बुद्धिज्म का संविधान कहा जाता हैं। मेरे बचपन की परेशानियां, करुणा, संघर्ष ने ही मुझे बुद्ध की ओर झुकाया। घर से भागना भी बुद्ध का ही प्रभाव है।

मेरे लेखकीय व्यक्तित्व के निर्माण में बीएचयू व जेएनयू का योगदान रहा है। किसका अधिक, किसका कम; यह कहना कठिन है। बस समझ लीजिए बीएचयू माई की गोद हैं तो जेएनयू मौसी की शरण है।

प्रस्तुति : **शीला आर्य** एवं **मो. जाहिदुलदीवान**
शोध छात्र, भारतीय भाषा केन्द्र

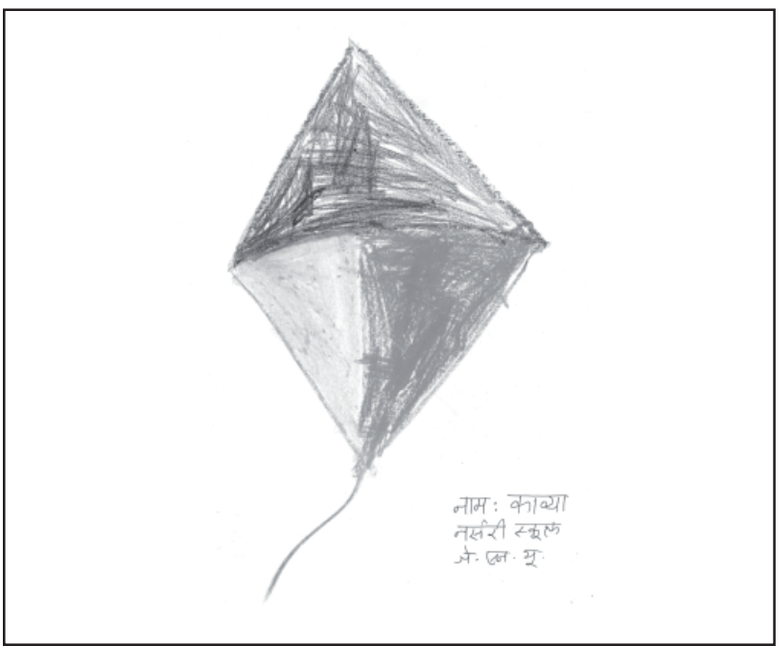

आत्मकथा

मणिकर्णिका

तुलसी राम

सन् 1958 में आजादी के बाद का सबसे बड़ा छात्र आंदोलन बी.एच.यू. में हुआ था, जिसकी चर्चा 1966 में भी वहां के विभिन्न छात्र नेता किया करते थे। इस निरंतर चर्चा का मूल कारण यह था कि सन् 1958 के आते–आते विश्वविद्यालय में क्षेत्रीयतावाद का बोलबाला हो गया था। सारा अकादमिक वातावरण उत्तर तथा दक्षिण अवधारणा के बीच जूझने लगा था। पुराने प्राध्यापकों तथा कर्मचारियों का कहना था कि विशेष रूप से जब सर्वपल्ली राधाकृष्णन तथा सी. पी. रामास्वामी अय्यर बी. एच. यू. के वाइस चांसलर हुए, तो यह भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि इन दोनों के कार्यकाल में दक्षिण भारतीय प्राध्यापकों तथा कर्मचारियों की नियुक्तियां बड़े पैमाने पर की गयी थीं, जिसके चलते हिंदी क्षेत्र के लोगों के बीच काफी असंतोष फैल गया था। वहां जातिवाद, विशेष रूप से ब्राह्मणवाद पहले से ही हावी था। इसका सबसे बड़ा प्रतीक यह था कि बी. एच. यू. का जो एडमिशन फार्म प्रकाशित होता था, उसमें एक कालम के तहत साफ तौर पर लिखा होता था : 'आर यू. ब्राह्मण आर नान ब्राह्मण ?' अर्थात आप ब्राह्मण हैं या गैरब्राह्मण ? मैं जब बी.एच.यू. में गया तो उस समय भी फार्म में उक्त लाइन विद्यमान थी। इसे हटाने की मांग सबसे पहले छात्र नेता आनंद कुमार ने उठायी थी। बाद में यह कालम हटा दिया गया। जातिवाद और क्षेत्रीयतावाद के चलते बी.एच.यू. का अकादमिक स्तर गिरने लगा था। अतः गिरते अकादमिक स्तर का कारण ढूंढ़ने के लिए तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षामंत्री कालू लाल श्रीमाली ने 1958 में 'मुदालियर कमीशन' का गठन किया था। मुदालियर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रोफेसरों पर आरोप लगाया था कि उनके चलते शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा था। मुदालियर कमीशन की रिपोर्ट से बी.एच.यू. पूरी तरह से उत्तर –दक्षिणवाद में बंट गया था। अतः 1958 में इसके विरुद्ध आजादी के बाद का सबसे बड़ा छात्र आंदोलन खड़ा हो गया। आग में घी का काम किया तत्कालीन वाइस चांसलर वेणी शंकर झा ने, जिन्होंने पूर्वी यू.पी. से संबंधित कई नामी प्राध्यापकों को बी.एच.यू. से बर्खास्त कर दिया। इन प्राध्यापकों में प्रो. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, राजबली त्रिपाठी तथा गोपाल त्रिपाठी आदि शामिल थे। उस समय छात्रसंघ के अध्यक्ष गंगाराम ने वाइस चांसलर का साथ दिया, इसलिए छात्रों ने उन्हें गद्दार घोषित कर दिया था। किन्तु, कम्युनिस्ट विद्या सागर नौटियाल के नेतृत्व में छात्रों ने हड़ताल कर दी। यह आंदोलन इतना भयंकर था कि विश्वविद्यालय को पहली बार अनिश्चितकाल के लिए बंद कर के करीब एक सौ छात्रों को बर्खास्त कर दिया गया था। इस आंदोलन के प्रमुख नेताओं में नौटियाल के अलावा एस.पी. घोसाल, आनंद्वेश्वर प्रसाद सिंह, सतीश कुमार तथा धर्मशील चतुर्वेदी आदि शामिल थे। उस छात्र आंदोलन की व्यापकता का अंदाजा उस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उस समय किसी छात्र ने रुइया होस्टल के आहाते में स्थित ऊँची पानी की टंकी के ऊपर बड़े बड़े अक्षरों में अलकतरा से लिख दिया था : 'वी. एस. झा, गो बैक', यानि वेणी शंकर झा वापस जाओ। यह लिखावट 1958 के बाद करीब पचास वर्षों तक उस टंकी पर ज्यों–की–त्यों बनी रही। काफी दूर से भी इसे पढ़ा जा सकता था। उसी समय से बी.एच.यू. छात्रसंघ पर प्रतिबंध लगा हुआ था। किन्तु स्मरण रहे कि 1965 में बी.एचयू. में जो 'हिन्दू बचाओ' आंदोलन हुआ था, उसके चलते छात्र संघ को फिर से बहाल कर दिया गया। उसके पहले अप्रत्यक्ष रूप से चुनी हुई छात्र कौन्सिल हुआ करती थी, जिसके अध्यक्ष राम बचन पांडे तथा महामंत्री नरेन्द्र प्रसाद सिन्हा हुआ करते थे। उस समय दीपक

मलिक तथा देवव्रत मजुमदार जैसे अन्य छात्र नेता हुआ करते थे। इन सारे नेताओं ने 'हिन्दू बचाओ' आंदोलन का नेतृत्व किया था। सबसे रोचक तथ्य यह था कि इस आंदोलन में कम्युनिस्ट, सोसलिस्ट तथा आर.एस. एस. आदि सभी विचारधाराओं के लोग शामिल थे। छात्र आंदोलनों की इस पृष्ठभूमि में मैं जब 1966 में बी.एच.यू. में पहुंचा, तो देखा कि जगह जगह छात्र नेता सभा करते और छात्रों से अपने अधिकारों के लिए लड़ने की अपील करते। सबसे बड़ा सभास्थल विश्वविद्यालय पर खड़ी मालवीय जी की मूर्ति के इर्द–गिर्द बना चबूतरा था। पूरा वातावरण राजनीति से सरोबोर हो चुका था। सभी विचारधाराओं के छात्र नेता नये छात्रों को अपनी तरफ खींचने की कोशिश में लगे हुए थे।

उन दिनों बी.एच.यू. में पी.यू.सी. यानि 'प्री यूनिवर्सिटी कोर्स' हुआ करता था, जो ग्यारवहीं कक्षा के बराबर होता था। इसे पास करने के बाद तीन वर्षीय बी.ए. के कार्से में दाखिला होता था, जबकि अन्य विश्वविद्यालय में बारहवीं कक्षा पास करने पर दो वर्ष का बी.ए. होता था। बी.एच.यू. में भी बारहवीं के बाद बी.ए. पार्ट–2 में एडमीशन हो जाता था। अतः मेरा भी बी.ए. पार्ट–2 में दाखिला हुआ था। भारत के अन्य विश्वविद्यालयों से हटकर उस समय वहां सेमेस्टर सिस्टम होता था। बी.ए. में छात्रों की संख्या बहुत अधिक होती थी, इसलिए चार चार सेक्शन में क्लास चलता था। बी.ए. में मेरे तीन प्रमुख विषय इंग्लिश लिटरेचर, हिंदी साहित्य तथा फिलासफी थे। इंग्लिश लिटरेचर में मेरे प्रमुख प्राध्यापक थे डॉ. के.पी. मुखर्जी, डॉ. एस. भट्टाचार्य, डॉ. एस. चक्रवर्ती, डॉ. एस. के. सिंह, डॉ. आर.एस. ओझा तथा डॉ. ओ.पी. माथुर। हिंदी साहित्य के प्राध्यापकों में थे शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र काशिकेय', डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. काशीनाथ सिंह, डॉ. त्रिभुवन सिंह, डॉ. शिव कर्ण सिंह तथा विजय शंकर मल्ल आदि। फिलासफी में डॉ. आर. आर. द्रविड़ तथा डॉ. एल.एन. शर्मा थे। इंग्लिश लिटरेचर में डॉ. के.पी. मुखर्जी, डॉ. एस. चक्रवर्ती एवं आर. एस. ओझा विभिन्न कारणों से बहुत लोकप्रिय थे। मुखर्जी तथा चक्रवर्ती अंग्रेजी गद्य तथा पद्य के बड़े विद्वान थे, किन्तु आर.एस. ओझा शेक्सपीयर पर विशेषज्ञ होने के साथ ही अत्यंत झक्की स्वभाव के थे। ओझा शेक्सपीयर के नाटक 'मैकबेथ' को पढ़ाते समय जब लेडी मैकबेथ के पागलपन का दौर आता था, तो वे स्वयं पागल की तरह व्यवहार करने लगते थे। उनके इस व्यवहार पर कक्षा में बैठा या दरवाजे पर खड़ा कोई न कोई छात्र जोर से बोल पड़ता था : 'ओझवा साला पागल'। होता यह था कि आर्ट्स कॉलेज की पुरानी इमारत में बहुत बड़े–बड़े कमरों में क्लास चलती थी। सौ से ज्यादा ही छात्र एक कक्षा में होते थे अतः टेबुल के नीचे झुककर कोई छात्र डॉ. ओझा के खिलाफ उक्त सम्बोधन करके चुपचाप गंभीर मुद्रा में बैठा रहता। इसलिए उस भीड़ वाली कक्षा में ऐसे छात्रों की पहचान करना बड़ा मुश्किल हो जाता था। लड़के भी उन्हें पेरशान करने के लिए कहते कि सर वह बदमाश कक्षा से बाहर भाग गया। इस पर डॉ. ओझा कक्षा के बाहर बरामदे में दौड़ पड़ते थे और खूब मां बहन की गालियां देते हुए उसे ढूंढ़ने निकल पड़ते थे। डॉ. ओझा के साथ ऐसा लगभग हर दिन होता था। डॉ. ओझा के इस व्यवहार से छात्रों का बहुत मनोरंजन होता था। उनके विचार काफी दकियानूस होते थे। एक बार पढ़ाते समय अपने लंदन प्रवास की घटना का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि ब्रिटिश कवि एच.डब्ल्यू लांगफेलो के खानदान के एक व्यक्ति का भाषण होने वाला था। वे उसे सुनने गये। उस व्यक्ति ने बोलते हुए कहा कि जब मेरे पिता का निधन हो गया तो मेरी मां ने दूसरी शादी कर ली। इस पर डॉ. ओझा कहने लगे कि मैं मीटिंग हाल से यह सोच कर बाहर आ गया कि यह सभा भ्रष्टाचारियों की है। इस पर उस दिन लड़के उन्हें 'पागल पागल' कह कर बहुत चिढ़ाये थे और वे भी आर्ट्स कालेज के अहाते में लड़कों को दूर दूर तक दौड़ाये थे। डॉ. ओझा की क्लास में छात्रों की बहुत भीड़ होती थी। अनेक छात्र कुर्सी न मिलने के कारण कक्षा में पीछे खड़े रहते या दरवाजे के बीच में। किन्तु वास्तविकता यह थी कि अधिकतर छात्र मनोरंजनवश उनकी कक्षा में आते थे। कई लड़के उन्हें चिढ़ाने के उद्देश्य से डॉ.

ओझा से कहते कि सर, लेडी मैकवेथ वाला प्रकरण समझ में नहीं आया। इस पर जब वे दोबारा पढ़ाते हुए पागल की तरह व्यवहार करते, तो लड़कों को एक बार फिर उन्हें 'पागल पागल' कहने का मौका मिला जाता था। बनारस अपनी मस्ती के लिए हमेशा विख्यात रहा है। वही मस्ती बी.एच.यू. की कक्षाओं में भी परिलक्षित होती थी। इस संदर्भ में बनारस की रोजमर्रा की संस्कृति से जुड़ी कुछ चुनिन्दा गालियां होती हैं, जिनका प्रयोग आपसी घनिष्ठता का सबसे बड़ा प्रतीक माना जाता है। इन्हीं गालियों में सबसे ज्यादा प्रयोग में लायी जाने वाली गाली इस प्रकार है : लोग 'भो' और 'ड़ी' के बीच में 'स' का इस्तेमाल बेहिचक एक दूसरे को सम्बोधित करने के लिए करते हैं। ऐसा सुनकर शुरू में मैं बड़ा अचम्भित होता था, किन्तु धीरे–धीरे मैंने भी इसे अपने व्यवहार में शामिल कर लिया था। एक दूसरे को सम्बोधित करते हुए लोग 'गुरु' शब्द का भी इस्तेमाल बड़े पैमाने पर करते थे। पान खाना भी वहां की संस्कृति का एक अभिन्न अंग था। अधिकतर छात्र एवं प्राध्यापक पान कूचते क्लास में आते थे। छात्र लोग तो पान खा खाकर कक्षाओं की दीवारों पर थूक–थूक कर पूरी पेण्टिंग बना देते थे। पानखाऊ प्राध्यापकों में हिंदी के शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र काशिकेय' सबसे ज्यादा प्रसिद्ध थे। वे पान में हमेशा भांग मिला कर चौबीसों घंटा गाल फुलाये रहते थे। अंततोगत्वा, इसके ही सेवन से उन्हें मुंह के कैंसर ने इस दुनिया से विदा कर दिया था। किन्तु रुद्र जी बेहद लोकप्रिय प्राध्यापक थे, जिसका कारण था उनके पढ़ाने की सौन्दर्यशास्त्रीय शैली। उनकी क्लास प्रायः दोपहर बाद तीन बजे लगती थी। भोजन के बाद इस तरह की कक्षाओं में अधिकतर छात्र तंद्राग्रस्त रहते थे, किन्तु रुद्र जी की कक्षा में सोते हुए भी जाग उठते थे। युवा प्रध्यापकों में डॉ. काशीनाथ सिंह बहुत लोकप्रिय थे। उनकी प्रगतिशीलता सभी को प्रभावित करती थी। धीरे–धीरे मैं इस नामी विश्वविद्यालय में रमता चला गया। ज्ञान की पिपासा बलवती होने लगी, किन्तु मैं तीन मूल समस्याओं से घिर गया था। एक समस्या यह थी कि मैं राजनीति में जाऊं, दूसरी समस्या भुखमरी की थी और तीसरी थी किराये के कमरे से उत्पन्न जातीय भेदभाव। भुखमरी वाली समस्या सबसे विकराल थी। परिणामस्वरूप, कक्षाओं में उपस्थिति घटने लगी। मैं दोहर बाद अक्सर आर्ट्स कालेज के समाने स्थित विशाल ऐम्फी थिएटर ग्राउंड में उस समय चला जाता, जब वहां कोई दूसरा नहीं होता। 'पढ़ाई अब छूटी, तब छूटी' की चिन्ता अश्रुधारा में बदल जाती थी। बी.एच.यू. का ऐम्फी थिएटर मेरे लिए एक बार फिर आसनसोल की उस हवाई पट्टी में बदल गया, जहां मुझे ऐसी ही स्थिति से जूझना पड़ा था। बी.ए. पार्ट–दो के दूसरे सेमेस्टर, यानी जनवरी 1967 की बात है। मैं दोपहर बाद ऐम्फी थिएटर की उस 'आवश्यक दिनचर्या' के बाद डॉ. एस. चक्रवर्ती द्वारा पढ़ाये जाने वाले अंग्रेजी पद्य की कक्षा में थोड़ी देर से पहुंचा। पीछे की तरफ किनारे वाली कुर्सी पर बी. डी. शर्मा नामक एक छात्र बैठा था। वैसे पूरी कक्षा छात्रों से भरी पड़ी थी। मैंने शर्मा जी से उनकी कुर्सी पर थोड़ी सी जगह अपने बैठने के लिए मांगी। शर्मा जी के मुंह से निकला : 'चल हट'। मैं उस दिन दरवाजे की आड़ में खड़ा होकर डॉ. चक्रवर्ती का लेक्चर सुनता रहा। वे विक्टोरियायी युग की कविता पर भाषण देते हुए कहने लगे कि उन दिनों लंदन स्थित सरे नामक स्थान 'नेस्ट आफ सिंगिंग बर्ड' यानि 'गाती चिड़ियों का घोसला' बन गया था, क्योंकि वहां लयदार कविता लिखने वाले कवियों की भरमार थी। क्लास के बाद उस दिन शर्मा जी की फटकार के कारण मैं स्वयं गाती के बजाये रोती हुई चिड़िया में बदल गया था। जातीय भेदभाव से उत्पन्न संवेदनशीलता हावी होने लगी।

समूचे हिन्दुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमको भारतीय भाषाओं में एक ऐसी भाषा या जबान की ज़रूरत है, जिसे आज ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में लोग जानते और समझते हों और बाकी लोग जिसे झट सीख सकें। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी ऐसी ही भाषा है।

— महात्मा गांधी

विचार

समाज विज्ञान और जेएनयू

आनंद कुमार

आज भारतीय समाजशास्त्र के सामने अनेक महत्वपूर्ण सवाल हैं। जेएनयू के प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. आनंद कुमार ने यहाँ भारतीय समाज के सामने खड़े मुद्दों पर विचार किया है।

साठ और सत्तर का दशक अहम परीक्षा के दौर से जुड़ा है। यह परिवर्तन की राहत के साथ आया था, लेकिन साठ और सत्तर के परिवर्तन ने कई केन्द्रीय प्रश्न–प्रक्रिया को सामने ला खड़ा किया था और इसके लिये समाज विज्ञान की धाराएं पर्याप्त नहीं लग रही थीं। प्राकृतिक विज्ञान, राजनीतिक विज्ञान, इतिहास आदि कई समान्यीय अनुशासन भी चौतरफा परिवर्तन के दौर से गुजर रहे थे, किसान मजदूरों एवं विद्यार्थियों के आंदोलनों का प्रभाव 70 और 72 के चुनाव रूझानों में स्पष्ट दिखायी दे रहा था। दक्षिण एशिया के पाकिस्तान में जन–आंदोलन, बांग्लादेश का निर्माण, नेपाल का विद्रोह, चीन की सांस्कृतिक क्रांति, जापान में छात्र आंदोलन, यूरोप की ऐतिहासिक 1968 गतिविधि, चेकोस्लावाकिया का प्रहा वसंत और रूसी सेनाओं का पारसियों पर आक्रामक तेवर कम्युनिस्ट राज्य व्यवस्था की नाकामियों को उजागर कर रहा था। अमेरिका में नागरिक अधिकार की लड़ाई और युद्ध की विदेश नीति के खिलाफ युवाओं का विद्रोह पूंजीवादी जनतांत्रिक व्यवस्था को बेपर्दा कर रहा था। ऐसे राष्ट्रीय एवं अंतरराष्टीय परिवेश में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ हुआ। मुझे यहाँ एम.फिल. के तृतीय बैच में पांच सेमेस्टर तक पढ़ने का सौभाग्य मिला जिससे मेरे मन में समाजशास्त्र की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का संकल्प मजबूत हुआ क्योंकि हमारे सभी सुयोग्य एवं सम्माननीय शिक्षकों–योगेन्द्र सिह, टी.के. ऊम्मन, के.एल. शर्मा, एम.एन. पाणिनी और पार्श्वनाथ मुखर्जी स्वयं खुले मन और गहरे ज्ञान वाले समाजशास्त्री थे। इनकी बौद्धिक क्षमता के बावजूद मुख्यधारा के समाजशास्त्री समुदाय या सभी किसी एक सिद्धांत या विचारधारा से संरक्षित नहीं थे। फिर, इस विभाग में अन्य समाजविज्ञानियों के प्रति आधारपूर्ण खुलेपन की प्रक्रिया शुरू की, हम सभी छात्रों को अपने कक्षाओं के अलावा अन्य विभागों के कक्षाओं में पढ़ाने जाना पड़ा। जिससे मुझे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में शिक्षा और समाज के बीच के अंतर्संबंधों की समझदारी को बढ़ाने में काफी सहयोग मिला। बनारस के छात्र आंदोलन में सक्रियता के पांच साल बाद शिक्षा नीति तथा शासन व्यवस्था के कई पहलु सामने थे, लेकिन जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग ने समाज और सत्ता शक्ति का ज्ञान दिया। फिर विद्यार्थी आंदोलन से शुरू हुई जिज्ञासा राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय आंदोलनों और क्रांतियों तक समाजशास्त्री अध्ययन तक सहज ही ले गयी। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में मेरे शिक्षकों ने अच्छे समाजशास्त्री बनने के लिए सक्रिय समाज वैज्ञानिकों की जरूरत को भी पूरा किया। आधुनिकीकरण और विकास की कक्षा में हमारे शिक्षकों ने यह प्रस्ताव रखा कि हम विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय के निर्माण में जुटे स्त्री–पुरुषों की झुग्गी झोपड़ियों में रचनात्मक कार्यों से भी जुड़ना चाहिए तभी कक्षा में मिल रही सही जानकारी और ज्ञान का सही अर्थ समझ में आयेगा। हमारे एक शिक्षक ने मुझे पहली बार ऑल इंडिया रेडियो की एक राष्ट्रीय परिचर्चा में शामिल कराया । दो अन्य शिक्षकों ने मुझे जे.पी. के

द्वारा आयोजित सिटीजन फॉर डेमोक्रेसी में भाग लेने के लिये प्रेरित किया। अपने विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता में भरोसा हमारे इन शिक्षकों का अदभुत था। इन्हें हमारे कक्षा से लेकर कुलपति घेराव के बारे में कभी कोई एतराज नहीं हुआ। इसलिए हम विद्यार्थियों को भी जिम्मेदारी एवं स्वतंत्रता का खयाल था। आज मेरे जैसे कुछ हजार लोग विभिन्न भूमिकाओं में अपने जगह आ सके हैं तो उसमें हमारे इन ज्ञानी और उदार शिक्षकों का मार्गदर्शन का बड़ा योगदान है । इसका यह अर्थ नहीं की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त स्नातकोत्तर और शिकागो विश्वविद्यालय से प्राप्त पीएच.डी. का कम योगदान है लेकिन यह सच है कि जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में मिले अवसर आशा के अनुरूप आकर्षक एवं असरदार था। अब अगर एक समाजशास्त्री के रूप में हम अपने समाजशास्त्री शिक्षकों का दृष्टि को ध्यान में रखते हुये मौजूदा समाज के न्याय और एकता की चुनौतियों का आकलन करें तो क्रमशः पांच आयाम महत्वपूर्ण हैं ,जो सामाजिक सच हैं जिसमें भारत की सामाजिक व्यवस्थाओं और संरचनाओं का निर्माण होता है – 1 जाति व्यवस्था; 2 वर्ग संरचना; 3 लिंग भेद; 4 सांस्कृतिक अस्मिता; और 5 विविध धर्म समूह।

हमारे राष्ट्रीय आंदोलनों से औपनिवेशिक काल में इन पांच प्रसंगों के द्वारा राष्ट्र निर्माण का वैचारिक आधार निर्मित हुआ। इस प्रक्रिया में उत्पन्न आरम्भिक समय से संविधान निर्माताओं ने स्वाधीन भारत के लोकतांत्रिक एवं आधुनिकता के जरिये एक समतापूर्ण समाज बनाने के लिये आगे बढ़ने का बौद्धिक आधार दिया। हांलाकि, भारतीय समाज में शताब्दियों से कायम विषमता के निवारण के लिये सिर्फ संविधान की संकल्पना पर्याप्त हो सकती। इसके लिये आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के अधीन सत्ता जगजाहिर है। 21वीं शताब्दी के दूसरे दशक को भारत की सत्ता व्यवस्था और शक्ति संरचना संगठित की गयी और इसको हमने पिछले सात दशकों में परिवर्तित करने का प्रयास किया। जाति व्यवस्था को शिक्षा के प्रसार, वंचितों को आरक्षण और अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण से प्रभावित किया है। कहा जाता है कि अब तक के परिवर्तन के परिणामस्वरूप यथास्थितिवाद टूटा है। राजनीति के मैदान में कम से कम चार प्रतिद्वंदी समूहों के बीच से अपने विकल्प को चुनने का अवसर आता है, अगड़ा और पिछड़ा का गठबंधन, शूद्रवादी और पिछड़ा का गठबंधन, दलित और अन्य पिछड़ा का गठबंधन और अल्पसंख्यक समूहों और अन्य पिछड़ों का गठबंधन, इससे प्रभुत्व जातियों को गंभीर चुनौती मिली है। इसी के समानान्तर अवसर के समानता की भूख ने अन्य पिछड़ों और दलितों के बीच एक नया ध्रुवीकरण सामने आया है। इससे हमारी जाति विरोधी योजनाओं में संशोधन और समीक्षा का समय आ गया है। सामाजिक न्याय की चेतना के विस्तार के कारण मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि धार्मिक समुदाय में व्याप्त जातिगत विषमता मुखरता से सामने आई है। पासमंदा मुस्लिम, दलित सिख आदि पर जाति आधारित अन्यायों के खिलाफ जनजागरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रक्रिया को सामाजिक न्याय के आदर्श की स्थापना के लिए शिक्षा को मौलिक अधिकार और जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में असफलता मिली है।

वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से भारत एक नये मध्यम वर्ग के बीच का फासला और सतत् निर्धनता से पीड़ित वर्ग के दो पक्षों में फंसा दिखता है उदारीकरण की नीति ने पूंजी निर्माण में रोजगार के अवसर के माध्यम से एक नये मध्यम वर्ग को जन्म दिया है, इससे एक चौथाई की जनसंख्या मध्यमवर्ग पार कर चुकी है लेकिन शेष तीन चौथाई भारत अलाभ की स्थिति में तैर रहा है। उससे वर्ग हिंसा, क्षेत्रीयता, अपराधीकरण और गैर जनतांत्रिक प्रवृतियों के उभरने का खुला अवसर मिल रहा है। अगर मिश्रित अर्थव्यवस्था ने देश को संपन्न अभावग्रस्तता में बांटा था तो आज उदारीकरण से हमारा समाज आत्मकेन्द्रीत भोगवादी मध्यम वर्ग की असामाजिक और अलगाववादी विषमता के दस्तक की हतास के अंतर्विरोधों का सामना कर रहा है।

लिंग भेद के सवाल पर भारतीय समाज समाजिक सुधार आंदोलन विदेशी धर्म प्रचारकों और देशी समाज

सुधारकों की कड़ी आलोचना का निशाना रहा है और राष्ट्रीय आंदोलन ने स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं की भागीदारी के लिए विशेष ध्यान दिया। चरखा समेत सभी रचनात्मक कार्यों की आधारभूमि नवजागृत स्त्री शक्ति को बनाया गया। सत्याग्रह में भी हर जिले और जमात से महिलाओं की टोलियों ने हिस्सा लिया। आजाद हिन्द फौज ने समूची ब्रिगेड रानी लक्ष्मीबाई के नाम से कैप्टन लक्ष्मी सहगल के नेतृत्व में नेताजी सुभाषचंद्र ने संगठित किया। इन सबके परिणामस्वरूप हमारी संविधान सभा को भविष्य के भारत का आधार नर–नारी समता के लक्ष्य को बनाना स्वाभाविक है लेकिन आजादी के 65 साल बाद भी स्वस्थ्य साक्षरता सामाजिक सुधार से लेकर राजनीतिक हिस्सेदारी के सभी बडे मापदंडों की दृष्टि से हम अभी नर–नारी समता से कोसों दूर हैं। फिर भी, पिछले तीन दशकों में राजनीतिक दलों और धार्मिक संगठनों के उदासीनता के बावजूद भारतीय महिला आंदोलन को समाज में स्त्रियों के प्रति व्याप्त हिंसा के खिलाफ एक नया जागरण पैदा करने में सफलता मिली। इसके परिणामस्वरूप पंचायतों में पचास प्रतिशत आरक्षण से लोकसभा में तीस प्रतिशत के आरक्षण तक का पारिवारिक हिंसा के उन्मूलन के लिये नये कानूनों के असरदार व्यवस्था तक कई महत्वपूर्ण कदम उठाये जा चुके हैं। नगरीय–ग्रामीण, अमीर–गरीब और शिक्षित–अशिक्षित जैसे महत्वपूर्ण विभाजनों के बावजूद हम स्त्री शक्ति के सक्रिय हस्तक्षेप के दौर में पहुंच चुके हैं। आज अस्पृश्यता और सांप्रदायिकता की तरह स्त्रियों का उनका संविधानसम्मत स्थान देने में आनाकानी करने वाले चौतरफा आलोचना के शिकार बनते हैं या वैचारिक विजय हमारे समाज के जनतांत्रिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सांस्कृतिक अस्मिता (Ethnicity) का नया महत्व हमारे जनतांत्रिक राष्ट्र-निर्माण यात्रा का सहज पड़ाव है। किसी भी अन्य देश की तरह भारत में भी विदेशी राज्य ने हमारी परम्पराओं का विकृतिकरण करके हमारी अस्मिताओं विकृत किया था। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन अस्मिता की रक्षा का एक मोर्चा था। भारत की विभिन्न भाषाओं का हमने राजनीतिक और संवैधानिक पहचान देकर अस्मिता आग्रह को वैधता दी है। अब से अस्मिताएं जनतांत्रिक राजनीति में वोट बैंक के रूप में राजनीतिज्ञों द्वारा इस्तेमाल की जा रही है। क्षेत्र, भाषा और धर्म के सहयोग से रची गयी विविध अस्मिता का राजनीतिकरण हमारे विकास व्यवस्था से पैदा नयी विषमताओं का परिणाम हैं। ये राष्ट्रीय एकता के राजनीतिक सीमाओं का भी प्रतिबिम्ब है। इसलिए अब औपनिवेशिकता से मुक्त और जनतांत्रिक वैधता से मुक्त सांस्कृतिक अस्मिताएं राजनीति के व्याकरण में आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक विषमताओं के प्रतिरोध में आधार बन रही हैं। ये हमारी संवैधानिक व्यवस्था में राष्ट्र–निर्माण में निहित आशावाद के लिए प्रश्नचिन्ह भी हैं। धर्म संबंधी सामाजिक विषमता का ऐतिहासिक आधार पिछले हजार साल की स्मृतियों में है। इसका नया स्वरूप वोट बैंक की राजनीति और सांस्कृतिक भेदभाव की विरासत में है। ऐतिहासिक दृष्टि से पिछले एक हजार वर्षों में भारतीय समाज विदेशी ताकतों की विजय और देशी ताकतों की निरंतरता की व्यथा से पीड़ित रहा है। अधिकांश विदेशी हमलावर मध्य पश्चिमी एशिया से आये थे जहां इस्लाम का बोलबाला था। 19वीं शताब्दी में हम लोग समुद्री रास्ते से वर्चस्व बनाने वाले यूरोपीयन देशों के कब्जे में फंस गये। वहां ईसाई धर्म का वर्चस्व था। यह अलग बात है कि इस पूरे दौर में सामाजिक तनाव और राजनीतिक टकराव का सच हिन्दू और मुसलमान के बजाय देशी और विदेशी के बीच का था, फिर भी ब्रिटिश राज्य के दौरान देशी बनाम विदेशी के ऐतिहासिक सच को नकारते हुये हिन्दू बनाम मुसलमान के सांप्रदायिक रंग को चढ़ाया गया। फिर हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग और अकाली दल जैसे संगठनों के अवसर से सचमुच हिन्दू–मुसलमानो के बीच दंगे भी हुए। आजादी के समझौते ने भारत के बंटवारे का भयानक रूप धार्मिक आधार पर लाखों निर्दोषों को पीड़ित करने की भयानक कथा का कारक बना। लोकतंत्र में एक व्यक्ति एक वोट सिद्धांत के कारण गैर हिन्दुओं में अल्पसंख्यकवाद का भय अस्वाभाविक नहीं है।

डर से डर ही पैदा होता है। इसलिए क्रिया–प्रतिक्रिया के शाश्वत नियम के इस डर ने धार्मिक विषमताओं को फलने–फूलने का मौका दिया। धर्मनिपेक्षता का हमारा सामाजिक आदर्श जाति, वर्ग–विहीनता, नर–नारी समता की ही तरह हिन्दू और अन्य धर्मों की सांप्रदायिक जमातों के लिए सनातन शंका का विषय हो चुका है। सच्चर कमेटी रिपोर्ट के बाद हिन्दुओं के बीच धर्मनिर्पेक्षता को अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण का बहाना मानने का कोई आधार नहीं बचा। दूसरी तरफ अल्पसंख्यकों में विशेष तौर पर मुसलमानों के नयी पीढ़ी में पनप रहे अलगाववाद और निराशा को संबोधित करने की अनिवार्यता सबके सामने उपस्थित हो गयी यह एक नयी चुनौती है जो संविधान निर्माताओं के बताए रास्ते से हट जाने का परिणाम है।

सारांशतः भारतीय समाज में विषमतामूलक आधारों की लगातार जांच हम समाजशास्त्री की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है। लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और धर्मनिपेक्षता जैसे संवैधानिक आदर्शों के प्रति व्यापक स्वीकृति हमारे लिए आश्वस्त होने का कारण नहीं बनना चाहिए क्योंकि हर समाज की तरह भारतीय समाज में भी आदर्श और व्यवहार में अंतर एक समाजवैज्ञानिक सच है। इस अंतर को घटने–बढ़ने को जांचते रहना हमारी जिम्मेदारी है, अगर विषमताओं के आधार कमजोर होने की बजाय मजबूत हो रहे हैं, तब तो ये समाजशास्त्रियों के लिए एक राष्ट्रीय कर्तव्य भी माना जाना चाहिए।

प्रस्तुति : **ओमप्रकाश कुशवाहा**

जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति

कमल मित्र चिनॉय

जेएनयू को भारत की राजनीतिक संस्कृति का केन्द्र माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि यहाँ का खुला राजनीतिक और अकादमिक माहौल छात्रों, अध्यापकों और सदस्यों को सोचने का एक बेहतर विकल्प देता है। यहाँ प्रस्तुत है, जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति पर प्रसिद्ध राजनीति विज्ञानी प्रो. कमल मित्र चिनॉय के विचार।

जेएनयू में, पहली बार 1972 में बड़ी संख्या में छात्र आए, उससे पहले चंद पीएचडी के छात्र ही थे। 1972 से एम.ए. के छात्र आने लगे। आर्थिक अध्ययन और नियोजन केन्द्र (सीइएसपी) में 1973 से एम.ए. शुरू हुआ और 1974 से अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान (एसआईएस) में एम.ए. शुरू हुआ। जैसे–जैसे विश्वविद्यालय में छात्रों की संख्या बढ़ी, यहां राजनीतिकरण भी बहुत हुआ और मार्क्सवाद इसके केन्द्र में था। इंडियन स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज (आईएसआईआई) 1972 में जेएनयू में आकर अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान (एसआईएस) बन गया और सेन्टर फॉर रशियन स्टडीज भी 1972 में जेएनयू में आ गया। इस तरह यहां बहुत सारे छात्र हो गये थे। बाद में, मार्क्सवाद और भी ज्यादा प्रभावशाली हो गया। इसे पढ़ने और समझने की कोशिश करने वाले लोग काफी हो गये थे। इससे हुआ यह कि जेएनयू की राजनीति कैम्पस तक सीमित न रहकर समाज के व्यापक सरोकारों से जुड़ी।

1973 में, जेएनयू में एक दीक्षांत समारोह (कन्वोकेशन) हुआ। कुलपति ने उसके लिए बलराज साहनी को बुलाया। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि बलराज साहनी के बारे में सब लोग जानते थे कि वे एक्टर होने के साथ–साथ मार्क्सवादी भी थे। मगर, छात्रसंघ ने सुझाव दिया कि यदि दीक्षांत समारोह के लिए बाहर से कोई आ रहा है, तो हमारा अध्यक्ष भी उसमें बोलेगा। यही हुआ, छात्र संघ के तत्कालीन अध्यक्ष वी.सी. कोशि, जो एसएफआई समर्थित निर्दलीय थे, ने पूंजीवादी जमींदारी गठबंधन इत्यादि की आलोचना की और लगभग मार्क्सवादी पार्टी का कार्यक्रम पेश कर दिया। इसकी अखबारों में काफी हैरानगी से चर्चा हुई। उसके बाद फिर कोशिशें यह हुई कि छात्र संघ मान ले कि उनका अध्यक्ष नहीं बोलेगा, अन्य लोग बोलेंगे, पर छात्र संघ ने यह बात मानी नहीं। तो जेएनयू शायद इकलौता विश्वविद्यालय है, जिसका केवल एक बार दीक्षांत समारोह हुआ, उसके बाद फिर कभी नहीं हुआ और न लोगों ने कोई आन्दोलन चलाया कि दीक्षांत समारोह कीजिए। तो यह भी एक दिशा दिखाता है कि जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति क्या थी! उसमें स्पष्ट ये था कि हम सत्ताधारी राजनीतिक दल और सत्ता से नहीं जुड़ेंगे, हम अलग रहेंगे। बेशक उस समय जो गैर–मार्क्सवादी, मार्क्सवाद विरोधी या माओवादी शक्तियां थीं, जो सब मुक्त चिंतक (फ्री थिंकर्स) नाम से जुड़े हुए थे, उन्होंने भी यह नहीं कहा कि हमें कन्वोकेशन चाहिए।

जेएनयू के बारे में सब जानते हैं कि यहां के चुनाव स्वयं छात्र ही करवाते हैं और उनमें स्थानीय मुद्दों के साथ–साथ राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर भी बहसें होती हैं। चुनावों में अक्सर वामपंथ की जीत होती थी। उस समय वामपंथ का मतलब था एसएफआई और एआईएसएफ, उस जमाने में आइसा नहीं था। इसलिए जो सत्तर–अस्सी का दशक था, उसमें ज्यादातर एसएफआई–एआईएसएफ जीतते थे, कभी–कभी एसएफआई–एआईएसएफ का गठबंधन टूट जाता था, तो कोई और जीत जाता था। यह क्रांतिकारी आन्दोलन चलता रहा और बाद में

आइसा आ गया। जो लोग यह सोचते थे कि यह एक नई धारा है, उसे मौका देना चाहिए, उन्होंने आइसा को जिताया। उसके बाद एसएफआई–एआईएसएफ का जो प्रभाव था, वह कुछ कम हो गया।

1973 में ही, जेएनयू की प्रवेश नीति में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। उस जमाने में जो एसएफसी (स्टूडेन्ट–फैकल्टी कमिटी) थी, वह हर एक फॉर्म को चेक करती थी, क्योंकि उसी साल यह तय हुआ कि जो पिछड़े हुए छात्र हैं, उनको बीस प्रतिशत डिप्रेवेशन अंक मिल सकते हैं। नौ प्रतिशत अंक अनुसूचित जाति–अनुसूचित जनजाति को, छः प्रतिशत अंक ओबीसी को, सात प्रतिशत अंक सबसे गरीब को (उनकी आमदनी चार सौ से कम होनी चाहिए थी) और हजार तक एक अंक, आर्थिक पिछड़ेपन के लिए। साथ ही, क्षेत्रीय पिछड़ेपन के चार अंक थे। ये एसएफसी तय करती थी कि किसे कितने अंक मिलने चाहिए और फिर मौखिकी (वाइवा) होती थी, उस समय एम.ए. में भी मौखिकी होती थी। और यह चलता रहा। बाद में, मौखिकी का कुछ प्रभाव भी हो गया था, तब 1974 में छात्र संघ ने, जिसमें मैं भी शामिल था, ने पाया कि जिन लोगों को ज्यादा डिप्रेवेशन अंक मिलते हैं, उनको वाइवा में बहुत कम अंक मिलते हैं, ये क्यों हैं! फिर छात्र संघ ने यह सुझाव दिया कि जो डेप्रिवेशन अंक हैं, वो सेलेक्शन कमिटी को नहीं बताया जाएगा। बाद में वह लागू हो गया।

फिर, 1983 में एक आंदोलन चला, जो कोई खास प्रगतिशील आंदोलन नहीं था, बल्कि उसमें गुटबाजी थी कि अध्यक्ष को फंसाया जाय। छात्रसंघ अध्यक्ष एन.आर. मोहंती थे, जो अभी वरिष्ठ पत्रकार हैं। उन्होंने कुलपति और उप–कुलपति का घेराव करवा लिया, तो विश्वविद्यालय बंद कर दिया गया और फिर जब विश्वविद्यालय दोबारा खुला तो 1973 की प्रवेश नीति को हटा दिया गया। कुछ सालों बाद एक सीमित तरीके से इसे फिर लाया गया, मगर पहले जैसा नहीं था। फिर, सरकार ने यह कहा कि हम मौखिकी के लिए आने वाले छात्रों के रेल टिकट के पैसे नहीं दे सकते, इसमें बहुत पैसे लग जाते हैं क्योंकि बहुत लोग आते हैं, तो फिर एम.ए. में मौखिक परीक्षा खत्म हो गई और केवल लिखित परीक्षा रह गई।

इस बार भी एकेडेमिक काउंसिल में और उससे पहले भी विभिन्न कमिटियों में यह बात आई कि आरक्षित श्रेणी के छात्रों (मतलब ओबीसी/एससी/एसटी) के लिखित इम्तिहान में अंक ज्यादा थे और मौखिकी में उनके अंक कम थे। इस पर छात्रसंघ ने यह मांग की कि मौखिकी के जो तीस अंक हैं, उन्हें घटा कर पन्द्रह अंक किये जाय। इससे बहुत कम अध्यापक सहमत हुए। अध्यापकों को लगा कि उनके ऊपर एक आरोप लग रहा है और कुछ अध्यापकों ने, जिनको बहुत प्रगतिशील माना गया, उन्होंने कस कर छात्रों का विरोध किया। छात्र सर्वोच्च न्यायालय का फैसला लाये, तो कहा गया कि यह झूठा है, अधूरा है, वगैरह–वगैरह। और अंत में एक ही अध्यापक खुलकर बोला कि छात्रसंघ की इस मांग के बारे में हमें ढंग से सोचना चाहिए और संशोधन करना चाहिए। फिर एक कमिटी बनी, जिसके अध्यक्ष प्रो. सुखदेव थोराट हैं, जो सीएसआरडी के प्रोफेसर हैं और इस समय आईसीएसएसआर के अध्यक्ष हैं। इससे पहले यूजीसी के अध्यक्ष रहे हैं। वह कमिटी अपने सुझाव देगी। उस समय मैंने उन्हें 1973–74 के बारे में बताया कि यह पहले भी हो चुका है।

मुझे लगता है कि जिस तरह के गहरे संबंध छात्रों और अध्यापकों के बीच थे, वे अब वैसे नहीं रहे। यह यहां कि राजनीतिक संस्कृति में परिवर्तन है, जिसको मैं दुखद मानता हूं और सोचता हूं कि अध्यापकों को आलोचना से भागना नहीं चाहिए। आखिरकार हम छात्रों, अध्यापकों और कर्मचारियों में ऐसा कोई नहीं है, जो कभी गलती नहीं करता है या जिसकी समझ हर बार बिलकुल सही हो। जेएनयू की पुरानी राजनीतिक संस्कृति की परंपरा में इसे माना भी गया। 1973 की प्रवेश नीति में बहुत बड़ा योगदान अध्यापकों का था, मगर इस बार बिलकुल

साफ फूट थी। छात्रसंघ के लोग काफी दिन भूख हड़ताल पर रहे, बहुत कम अध्यापक उन्हें सहानुभूति दिखाने आए। यदि वे उनका साथ नहीं देना चाहते थे, तो भी कम–से–कम इंसानियत के तौर पर तो सहानुभूति दिखाते। मुझे लगता है कि यह इस विश्वविद्यालय का एक नया दौर है। अध्यापकों को लगता है कि जिन्हें वह अपना हक मानते हैं, जैसे मौखिकी, और वह सोचते है कि मौखिकी के बिना ढंग के छात्र नहीं चुने जा सकते, तो इस वजह से फूट हो गई। वैसे, एकेडेमिक काउंसिल में यह भी कहा गया कि मौखिकी को बांटा जाय, डोमेन नॉलेज इत्यादि में। यह नहीं कि सब नंबर इंटरव्यू के ही दिये जाय, जिसमें इंटरव्यू अलग–अलग हो सकते हैं, मगर एक सीमित तरह से मौखिकी हो। एक और ने सलाह दिया कि जो एक्स्ट्रीम रेंक्स हैं, यदि किसी छात्र को तीस में तीस मिल जाय या उन्नतीस, अट्ठाइस मिल जाय तो वह हटा देना चाहिए। यदि किसी को एक या दो मिल जाय तो वह हटा देना चाहिए। ये जो सुझाव आए थे, वह शायद कमिटी के पास जाएंगे। पर मुझे दुख है कि यह हुआ और जो लोग चाहते थे कि उन्हें छात्रों का दोस्त माना जाय और छात्र समर्थक और छात्र आंदोलन के समर्थक माना जाय, वह बूरी तरह एक्स्पोज हुए।

यह एक फूट हो गई। यह जरूरी है कि और फूट ना हो। इस बात से छात्र बहुत नाराज हैं। हाल की एक अन्य घटना में, एक ईरानी छात्र किसी कन्वेन्शन में आया था, उसके पीछे पुलिस आ गई और कैम्पस में आकर उसे ले गई। मुख्य सुरक्षा अधिकारी ने उसे इजाजत दी। ऐसा पहले जेएनयू में कभी नहीं हुआ। कुलपति या रेक्टर इजाजत देते थे, मुख्य सुरक्षा अधिकारी नहीं। इसमें बहुत गंभीर बात यह थी कि मुख्य सुरक्षा अधिकारी ने अपना मोबाइल उठाया नहीं या बंद कर दिया था। यह बहुत जबरदस्त चोट थी, जेएनयू परंपरा पर, जेएनयू संस्कृति पर और जेएनयू की लोकतांत्रिक और प्रगतिशील परंपरा पर भी।

यदि जेएनयू की राजनीतिक संस्कृति को वैसा ही रखना है तो फिर कुछ सोच होनी चाहिए प्रशासन में भी, और छात्रों एवं अध्यापकों में भी कि यह कैसे किया जाय। यह बहुत ज़रूरी है कि अध्यापकों और छात्रों के निजी संबंधों को दोबारा बनाये जायें और दोनों जाकर कुलपति से कहें कि जो लोकतांत्रिक हक जेएनयू में हैं, उन्हें सुरक्षित किया जाय। उदारहण के तौर पर मैं एक ही तरह का वाकया बताऊंगा कि कई बार छात्रों ने भूख हड़ताल की और कुलपति तथा रेक्टर छात्रों से मिलने नहीं आए। यह मुझे लगता है कि जेएनयू कल्चर के बिलकुल विपरीत है। और, जो अध्यापक कुलपति और रेक्टर के इर्द–गिर्द घूमते हैं, उनको सोचना चाहिए कि यह करना चाहिए कि नहीं।

प्रस्तुति : **गणपत तेली**

हर एक गुलाम देश अपने स्वामी की भाषा को अपनी भाषा बना ही लेता है।... अंग्रेजी बड़ी धनी भाषा है पर जितना तथा जिस दृष्टि से हम इसे आदर देते हैं, वह हमारे लिए गर्व की बात नहीं है।

– प्रेमचंद

हिन्दी और उर्दू का विवाद एक कठिन विषय है। मेरी समझ में उतना झगड़ा उर्दू तथा हिन्दी की भाषाओं का नहीं है जितना देवनागरी तथा उर्दू अक्षरों का है।

– सैयद महमूद

जेएनयू में हिंदी

केदारनाथ सिंह

जी, यही मेरा घर है
और शायद यही वह पत्थर जिस पर सिर रखकर सोई थी
वह पहली कुल्हाड़ी
जिसने पहले वृक्ष का शिकार किया था

इस पत्थर से आज भी
एक पसीने की गंध आती है
जो शायद उस पहले लकड़हारे के शरीर की
गन्ध है –
जिससे खुराक मिलती है
मेरे परिसर की सारी आधुनिकता को

इस घर से सटे हुए
बहुत–से घर हैं
जैसे एक पत्थर से सटे हुए बहुत –से पत्थर
और धूप हो कि वर्षा यहां नियम यह
कि हर घर अपने में बन्द
अपने में खुला

पर बगल के घर में अगर पकता है भात
तो उसकी खुशबू घुस आती है
मेरे किचन में
मेरी चुप्पी उधर के फूलदानों तक
साफ सुनाई पड़ती है
और सच्चाई यह है कि हम सबकी स्मृतियां
अपने–अपने हिस्से की बारिश से धुलकर
इतनी स्वच्छ और ऐसी पारदर्शी
कि यहां किसी का नम्बर
किसी को याद नहीं !

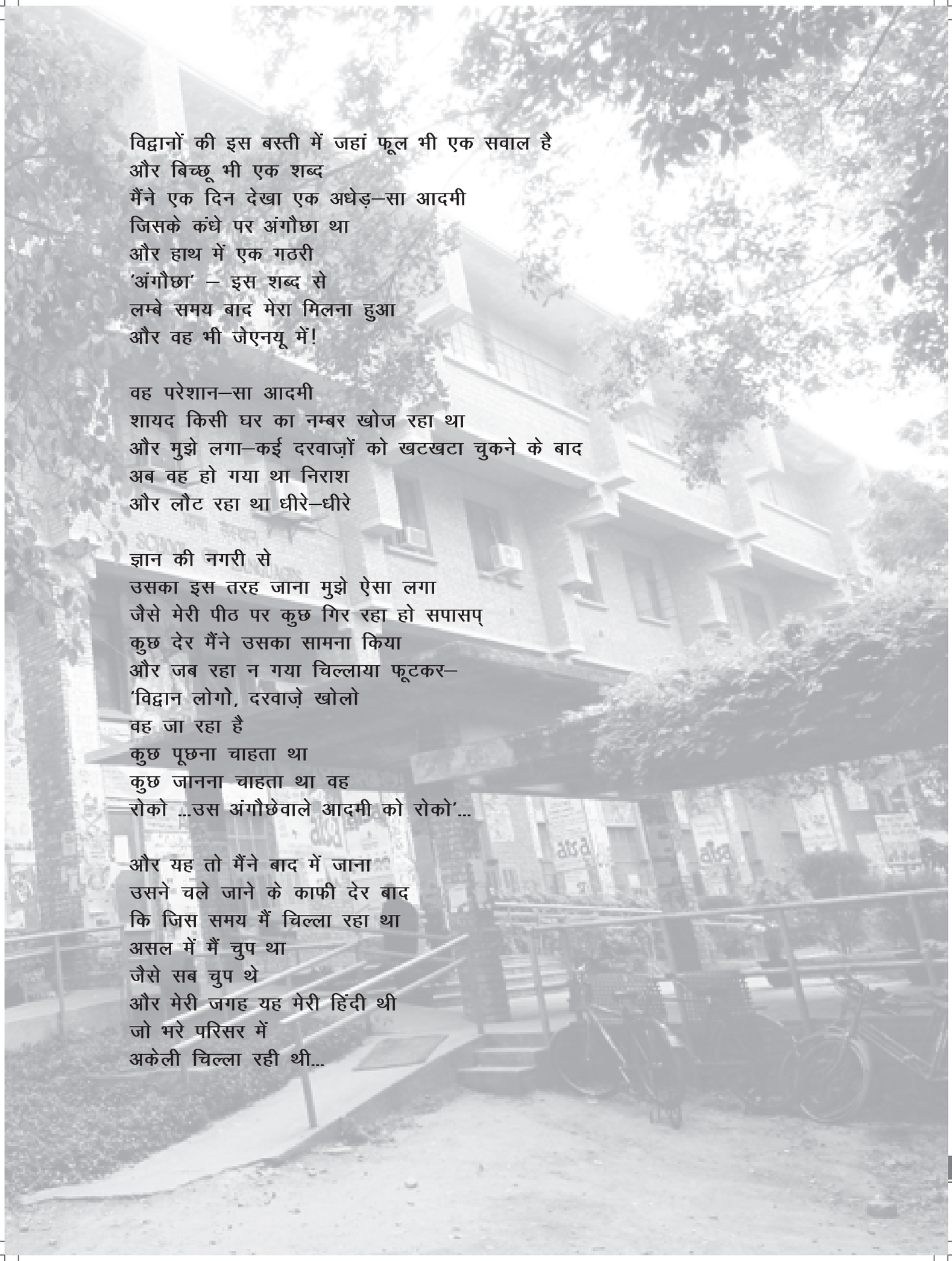

विद्वानों की इस बस्ती में जहां फूल भी एक सवाल है
और बिच्छू भी एक शब्द
मैंने एक दिन देखा एक अधेड़–सा आदमी
जिसके कंधे पर अंगौछा था
और हाथ में एक गठरी
'अंगौछा' – इस शब्द से
लम्बे समय बाद मेरा मिलना हुआ
और वह भी जेएनयू में!

वह परेशान–सा आदमी
शायद किसी घर का नम्बर खोज रहा था
और मुझे लगा–कई दरवाज़ों को खटखटा चुकने के बाद
अब वह हो गया था निराश
और लौट रहा था धीरे–धीरे

ज्ञान की नगरी से
उसका इस तरह जाना मुझे ऐसा लगा
जैसे मेरी पीठ पर कुछ गिर रहा हो सपासप्
कुछ देर मैंने उसका सामना किया
और जब रहा न गया चिल्लाया फूटकर–
'विद्वान लोगो, दरवाज़े खोलो
वह जा रहा है
कुछ पूछना चाहता था
कुछ जानना चाहता था वह
रोको ...उस अंगौछेवाले आदमी को रोको'...

और यह तो मैंने बाद में जाना
उसने चले जाने के काफी देर बाद
कि जिस समय मैं चिल्ला रहा था
असल में मैं चुप था
जैसे सब चुप थे
और मेरी जगह यह मेरी हिंदी थी
जो भरे परिसर में
अकेली चिल्ला रही थी...

लेख

दलित साहित्य का अभिधेयार्थ

बृजेश कुमार

बृजेश कुमार जेएनयू में शोध छात्र हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं उनके दलित साहित्य पर विचार

प्राचीन सवर्णों के उद्घोषक शब्दों अन्त्यज, शूद्र, चांडाल इत्यादि का नवीनीकरण ही दलित है। दलित अर्थात् समाज का दबा–कुचला वर्ग है। दलित शब्द में वर्तमान, भूत और भविष्य का जातिगत रूढ़ियां समाई हैं। यह आबद्धता शुरुआती दौर की आबद्धता नहीं, बल्कि आधुनिक चिंतन के प्रारंभिक दौर की आबद्धता है।

पहले जाति धर्म पर आधारित थी और व्यक्ति कर्म पर आधारित। जाति के अनुसार ही जीवन–दृष्टि अर्थात् समस्याओं को देखकर उनके समाधान के लिए एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाता था। वर्तमान समय में जाति कर्म पद पर नहीं, जन्म पर आधारित हो गई है। जातीयता की यह परिकल्पना अत्यन्त विशाल होती गई। जाति का केन्द्र अनुसूचित जाति हो गया।

दलित जाति का अभिधेयार्थ अब अनुसूचित आदिवासी जाति के लोगों से लिया जाता है। वहीं दूसरी तरफ कुछ प्रबुद्ध आलोचक इसके अन्तर्गत गरीब, श्रमिक, वर्ग, गरीब किसान, पिछड़ा वर्ग आदि को सम्मिलित करने के पक्ष में हैं। दलित के लिए एक पद दलित शब्द 'अछूत' की शुरुआत की गई। 'अछूत' कहकर दलित जाति के लोगों को सदियों का संताप सहना पड़ा है। सदियों से अछूत कहकर उपेक्षित किया गया है। मुख्य धारा में आने ही नहीं दिया गया।

अपने प्रारंभिक दिनों में दलित जाति एक श्रेष्ठ जाति थी हालाँकि इसका रूप तब दूसरा था। इस प्रारंभिक स्वरूप से ब्राह्मण जाति को खतरा पैदा होना शुरू हो गया था। प्रसिद्ध आलोचक अ.ला.ऊके के शब्दों में – "ब्राह्मणिक व्यवस्था ने सिर्फ निम्न जातियों को यह पाठ पढ़ाया ताकि वे अपने आपसे घृणा करते रहें। उनमें स्वाभिमान को उदय ही न हो। यह स्वाभिमान ही है जो व्यक्ति को मरने–मारने को उतारू करता है। उस मरने–मारने की मानसिकता को निम्न जातियों में ब्राह्मणिक व्यवस्था ने बड़ी ही चतुराई से दमन कर दिया।"

ऐसा माना जाता है कि मराठी साहित्य में सबसे पहले दलित साहित्य का प्रारंभ हुआ। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, रोटी, कपड़ा, मकान इत्यादि को लेकर महाराष्ट्र में दो दलित नेताओं डॉ. अम्बेडकर और महात्मा फूले ने दलित चेतना जागृति के लिए पहले सृजन और फिर संघर्ष किया।

चिंतन की आरंभिक अवस्था में कुछ प्रबुद्ध आलोचकों ने सहानुभूति और स्वानुभूति का प्रश्न उठाया और कहा कि स्वयं दलित लोगों के द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। इसके पीछे तर्क देते हुए उन्होंने कहा है कि गरीबी के बावजूद सवर्ण लोगों के सिद्धांतों, व्यवहारों और संस्कारों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखता है।

सवर्ण लोगों ने अपनी मानसिकता को भलिभाँति चरितार्थ किया है। पहले तो 'चमार' को चौपट किया फिर वह 'चौपट चमार' की चाकरी नहीं करना चाहते। किन्तु यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'चमार' को चौपट किसने बनाया ? उत्तर होगा

धार्मिक और ठाकुरी व्यवस्था ने। धर्म और ठाकुरी व्यवस्था का अन्योश्रित संबंध है। धर्म के संरक्षण में ठाकुरी व्यवस्था फली और फूली है। इतिहास गवाह है कि दो के बीच में तीसरी शक्ति का काम धर्म ने किया है। धर्म ने एक वर्ग को श्रेष्ठ तथा दूसरे वर्ग को अछूत की संज्ञा दी है। धर्म एक भांग की तरह है जिसे खाकर या पीकर व्यक्ति परिवेश को, परिवार को, समाज को और राष्ट्र को सहानुभूति और स्वानुभूति के प्रश्न पर लाकर खड़ा कर देता है। और इस स्तर पर इस लघु जीवन के पास विस्तृत स्वानभूति की एक लम्बी शृंखला विद्यमान होती है। बाबा साहेब अम्बेडकर को भी इसका दंश झेलना पड़ा था। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि – "अम्बेडकर को छात्र जीवन में ही छुआछूत का अहसास हो गया था। सतारा में कोई भी नाई उनके बाल नहीं काटता था। बाल बड़े होने पर उनकी बहन को ही उनके बाल काटने पड़ते थे।"

अपने युग–परिवेश से प्रताड़ित अम्बेडकर न केवल विश्व की व्याख्या ही नहीं की, उसे बदलने के लिए वह संघर्षरत भी रहे। अनुभूतियों और चिंतन की एक लम्बी परम्परा रही है, प्रेमचंद, निराला, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, गिरिराज किशोर इत्यादि सवर्ण लेखक विचारधाराओं से प्रभावित समाधान प्रस्तुत करते हैं, उनमें समस्या के समाधान के लिए दलित चेतना दृष्टि का नितान्त अभाव रहता है। इसी वजह से गैर दलितों का लेखन दलित साहित्य की कोटि में नहीं रखा जाता।

दलित चेतना की दहलीज़ पर आकर विचारधाराओं की कोटि समाप्त हो जाती है। वह स्वयं में विचार है, अनुभूति है किन्तु सहानुभूति तो किसी भी शर्त पर नहीं है। वह अन्याय, शोषण, दमन के विरुद्ध दलित क्रांति है। दलित क्रांति में अम्बेडकर का दर्शन निहित है। अम्बेडकर ने धर्म और ईश्वर ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूँजीवाद इत्यादि का विरोध किया। उन्होंने बौद्ध धर्म का समर्थन किया, क्योंकि वह उसे धर्म नहीं दर्शन मानते थे। उनका मानना था कि दलित चेतना की जागृति सामाजिक परिवर्तन की चेतना में है और यह सामाजिक परिवर्तन बौद्ध धर्म की वैज्ञानिक दृष्टि में ही संभव है जहां राजा और रंक, ऊँच और नीच इत्यादि सभी बराबर हैं। अम्बेडकर ने दलितों में चेतना जागृति का एक सूत्र दिया – ऐजूकेट, आर्गनाइज, एजीटेट अर्थात् शिक्षित बनो, संगठित होओ और संघर्ष करो। इसी प्रक्रिया में सन् 1970 ई. के दशक में दलितों का एक राजनीतिक दल सामने आया जिसका नाम 'दलित पैंथर' था। दलित पैंथर ने दलितों के उत्थान के लिए आवाज़ उठाई थी। हिंदी में दलित विमर्श का आरंभ सारिका (कहानी पत्रिका) के दो दलित विशेषांकों से माना जाता है। पहला विशेषांक अप्रैल 1975 तथा दूसरा मई 1975 में आया था। इसके बाद इस चेतना का उत्तरोत्तर विकास होता गया।

हिंदी में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, आत्मकथा, आलोचना आदि में दलित साहित्य की रचना व्यापक स्तर पर होने लगी।

कविता के स्तर पर – सुनो ब्राह्मण (बल्ली सिंह), आदि वंश का डंका (स्वामी अछूतानन्द), आग और आंदोलन (मोहनदास नैमिषराय), मैं गूँगा नहीं था (जय प्रकाश कर्दम), मुरख नहीं बनेंगे हम (रमणिका गुप्ता), मैं कौंच हूँ (श्यौराज सिंह बेचैन), बस्स! बहुत हो चुका (ओमप्रकाश वाल्मीकि) इत्यादि महत्वपूर्ण रचनाएं हैं।

उपन्यास के स्तर पर – दलितों को केन्द्र में रखकर प्रेमचंद, रेणु, अमृतलाल नागर आदि ने अनेक उपन्यास लिखे हैं। किन्तु इनके द्वारा लिखे गए उपन्यास यथार्थ और विद्रोही चेतना का अभाव है। मुक्तिपर्व, क्या मुझे खरीदोगे (मोहनदास नैमिषराय) काली रेत (ओमप्रकाश वाल्मीकि), छप्पर (जयप्रकाश कर्दम) इत्यादि महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

आत्मकथा के स्तर पर – अपने–अपने पिंजरे (मोहनदास नैमिषराय), अक्करमाशी (शरणकुमार लिम्बाले) जूठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि), दोहरा अभिशाप (कौशल्या) आदि चर्चित आत्मकथाएं लिखी गई।

कहानी के स्तर पर हंस, कथाक्रम, कथादेश, संवेद, हाशिए की आवाज़ आदि महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

नाटक के स्तर पर – हैलो कामरेड (मोहनदास नैमिषराय), दो चेहरे (ओमप्रकाश वाल्मीकि) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त तथ्यों को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि दलितों के जीवन पर केन्द्रित साहित्य बहुआयामी है। इस बहुआयामी साहित्य में 'मनुष्य मुक्ति' का स्वप्न 'दलित मुक्ति' से जोड़ा गया है। इस दलित मुक्ति में अस्पृश्यों के लिए ही नहीं बल्कि सभी वर्ग के लिए कुछ–न–कुछ करना होगा। बाबा साहेब के शब्दों में – "हमें अस्पृश्यों के लिए कुछ करना चाहिए; लेकिन इस समस्या को जो लोग हल करना चाहते हैं, उनमें से शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो यह कह सकता हो कि हमें स्पृश्य हिन्दुओं को बदलने के लिए कुछ करना चाहिए।"

बाबा साहेब यहां यह कहना चाहते हैं कि अगर किसी का सुधार होना है तो पहले सवर्णों का सुधार होना चाहिए। सवर्णों के बारे में कोई कुछ भी नहीं करता। सवर्णों के बारे में यह धारणा बन जाती है कि उनके आदर्श, उनके आचार–विचार, मान्यताएं सब कुछ ठीक है। अगर कोई खोट या खराबी है तो वह दलित या अस्पृश्य जातियों में है। यह धारणा उचित नहीं है। ऐसी भावनाओं से समस्या और उलझ जाती है। दलित का और ज्यादा शोषण होने लगता है। इसी भयानक शोषण का एक मंजर शरण कुमार लिंबाले ने भी देखा है – "रौंदा गया बचपन ऐसे ही कभी लहलहा उठता है। हाथ कसमसाते हैं। दिमाग पागल हो जाता है। बदन ऐंठ जाता है। हम मनुष्य नहीं हैं। मनुष्य के अलावा सब कुछ हैं।"

इसीलिए 'मनुष्य मुक्ति' का स्वप्न 'दलित मुक्ति' से जोड़ा गया है। मनुष्य के अलावा सब कुछ होना ही दलित साहित्य का अभिधेयार्थ है।

संदर्भ

1. अ.ला. ऊके, क्यों लगता है चमार को चमार कहना बुराः दलित चिन्तन के विविध आयाम, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिक्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2008, पृ. 19
2. मोहनदास नैमिराय, डॉ. अम्बेडकर और मार्टिन लूथर किंग का जीवन संघर्ष, नीलकंठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002,
3. डॉ. अम्बेडकर, बाबा साहेब, डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण बाड्.मय, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान पृ. 17, नई दिल्ली, 1998, खड–9
4. शरण कुमार लिंबाले, दलित ब्राह्मण, अनुवादक : निशिकांत ठकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2004

आज की हिन्दुस्तानी के दो रूप हैं– हिन्दी और उर्दू। हिन्दी नागरी लिपि में लिखी जाती है; उर्दू उर्दू लिपि में। एक का सिंचन होता है संस्कृत से, दूसरी का अरबी-फारसी से। इसीलिए आज तो दोनों को रहना है। दोनों मिलकर ही हिन्दुस्तानी बनेगी।

– महात्मा गांधी

अगर एक ऐसा अहम मामला जैसा कि कौमी जबान का मामला है सिर्फ पंद्रह वर्ष में तय हो जाता है तो हमें तस्लीम करना चाहिए कि यह सौदा बहुत सस्ते में चुका दिया गया है और कौम की जिंदगी की एक बड़ी कठिन मंजिल आसानी के साथ तय हो गई।

– अबुल कलाम आजाद

हिन्दी आन्दोलन और कांग्रेस

गणपत तेली

गणपत तेली जेएनयू में शोध छात्र हैं। यहाँ प्रस्तुत है, उनके हिंदी भाषा संबंधी विचार।

पराधीन भारत में जब अंग्रेजों से आजादी की लड़ाई चल रही थी, उसी समय भाषा–विवाद भी अपने चरम पर था। 1885 ई. में जब कांग्रेस की स्थापना हुई, उस समय उत्तर भारत में नागरी–फारसी लिपि विवाद अपने चरम पर था। नागरी–फारसी विवाद ही आगे चलकर हिन्दी–उर्दू विवाद में रूपांतरित हो गया। उक्त विवाद में औपनिवेशिक हस्तक्षेप ने इस विभाजन को प्रोत्साहित किया। दूसरी ओर, जैसे–जैसे कांग्रेस के स्वरूप का विस्तार होता गया और उससे आम जनता जुड़ने लगी, भाषा का प्रश्न उसके सामने भी उपस्थित होने लगा। महात्मा गांधी ने इस संबंध में लिखा कि ''हिन्दुस्तान की आम जनता की राजनीतिक शिक्षा के लिए हिन्दुस्तान की भाषाओं के महत्व को पहचानने और मानने की एक खास कोशिश सन् 1920 में शुरू की गई थी। इसी हेतु इस बात का प्रयत्न किया गया था कि सारे हिन्दुस्तान के लिए एक ऐसी भाषा को जान और मान लिया जाय, जिसे राजनीतिक दृष्टि से जागा हुआ हिन्दुस्तान आसानी से बोल सके और अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के आम जलसों में इकट्ठा होने वाले हिन्दुस्तान के जुदा–जुदा सूबों से आये हुए कांग्रेसी जिसे समझ सके।'' इस तरह से कांग्रेस के सामने भी भाषा का मुद्दा उठ रहा था, तो दूसरी तरफ लिपि विवाद के संघटक भी भाषा की लड़ाई लड़ने लगे थे। कांग्रेस चाहती थी कि कोई एक भाषा राष्ट्रभाषा के रूप में चुन ली जाय जबकि भाषा विवाद के उक्त दोनों पक्ष चाहते थे कि वह एक भाषा उनकी समर्थित भाषा हो। हिन्दी आन्दोलन और कांग्रेस के अंतर्संबंधों की मूल गतिकी यही थी।

सम्मेलन और कांग्रेस के बीच में आवयविक संबंध थे। हिन्दी आन्दोलन का नेतृत्व हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा किया जा रहा था। सम्मेलन के कई लोग कांग्रेस में थे और वे कांग्रेस की भाषा नीति को प्रभावित करने की कोशिश करते थे। इसी तरह, कांग्रेस के कई नेता भी सम्मेलन के कार्यक्रमों में हिस्सा लेते थे, यहां तक कि महात्मा गांधी, राजेन्द्र प्रसाद जैसे नेता तो सम्मेलन के सालाना अधिवेशनों के सभापति भी बने। इस प्रक्रिया में कांग्रेस और सम्मेलन दोनों ने एक–दूसरे को प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कर्ताधर्ता पुरुषोत्तमदास टंडन उत्तर प्रदेश कांग्रेस में इतना बड़ा स्थान रखते थे कि बाद में जब संयुक्त प्रांत में कांग्रेस की सरकार बनी थी वे असेम्बली के सभापति बनाये गये। उनके अतिरिक्त कई अन्य व्यक्ति भी कांग्रेस और सम्मेलन के बीच पुल का काम करते थे।

हिन्दी आन्दोलन के इस पक्ष का उद्देश्य कांग्रेस की भाषा नीति को प्रभावित करना था। इस संबंध में वीणा के एक संपादकीय में लिखा गया है कि ''हमारी लगन और धुन एक दिन कांग्रेस को विवश कर देगी और उसे हिन्दी को अपनाना पड़ेगा। कांग्रेस को यह कभी न भूल जाना चाहिए कि उसका अस्तित्व–हिन्दी भाषी – और हिन्दी हितैषियों के बल पर है। उनके शक्तिशाली कंधे उसे साधे हैं। यदि वे अपना कंधा हिला देंगे तो कांग्रेस साफ गिर जायगी।'' जाहिर सी बात है कि गांधी के प्रभाव से औपचारिक रूप से कांग्रेस की भाषा नीति हिन्दुस्तानी समर्थक थी, इसीलिए हिन्दी पक्ष कांग्रेस पर यह दबाव बना रही थी। वीणा के उक्त वक्तव्य के फुटनोट में एक टिप्पणी जोड़ी गई कि ''हर्ष की बात है कि छपते–छपते हमें मालूम हो गया है कि कांग्रेस ने हिन्दी के रूप में मान लिया है।'' इससे सम्मेलन का कांग्रेस पर प्रभाव स्पष्ट होता है।

सम्मेलन और कांग्रेस के संबंध इतने गहरे थे कि हिन्दी से जुड़े कई लोगों ने इन संबंधों की आलोचना की। अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने विशाल भारत में लिखा था कि ''इधर कई वर्षों से हिन्दी–साहित्य–सम्मेलन पर कांग्रेस का अप्रत्यक्ष प्रभाव था, पर अब दो वर्षों से वह कांग्रेस का एक विभाग बनता जा रहा है।'' सम्मेलन के अधिवेशनों में

कांग्रेस के नेताओं की मौजूदगी और उसमें छाया रहने वाला राष्ट्रभाषा का प्रश्न उसे यही तरह का रूप दे देता था। नागपुर अधिवेशन के बारे में प्रकाशित हुई श्रीयुत अज्ञेय की एक रिपोर्ट में यही बात विस्तार से उठाई गई है, जिसमें यह कहा गया था कि यह अधिवेशन राजनीतिक जमघट था, साहित्यिक अधिवेशन नहीं।

हिन्दी समर्थकों की तरफ से हिन्दी की स्वाभाविकता का तर्क देते हुए यह बताया जाता था कि हिन्दी ही भारत की स्वाभाविक राष्ट्रभाषा है, इसलिए कांग्रेस को इसका ही पक्ष लेना चाहिए। रामनाथ सुमन ने लिखा है कि ''ज्यों–ज्यों कांग्रेस का अन्तःप्रांतीय रूप दृढ़ होता गया है और कांग्रेस ने भारतीय जनता, विशेषतः ग्रामीण और अपढ़ जनता के अंदर प्रवेश किया है, त्यों–त्यों बड़े–बड़े समूहों में अपने विचारों का प्रचार करने के लिए एक ऐसी भाषा की ज़रूरत मालुम हुई है, जिसे सब लोग समझ सके।'' यह बात सही है, इस संबंध में हम गांधी को उद्धृत कर चुके हैं, लेकिन इस बात के लिए गांधी ने हिन्दुस्तानी का पक्ष लिया था क्योंकि हिन्दुस्तानी की व्याख्या हिन्दी से अधिक व्यापक थी, जबकि हिन्दी समर्थकों ने हिन्दी का पक्ष लिया। कांग्रेस द्वारा हिन्दुस्तानी की तरफ झुकने पर हिन्दी पक्ष द्वारा इसकी आलोचना की जाती थी। ऐसी ही आलोचना करते हुए धर्मदेव शास्त्री ने लिखा कि ''यद्यपि कांग्रेस ने 'हिन्दी' को राष्ट्रभाषा का रूप दिया है तथापि जानबूझकर उसके अधिवेशनों में अधिक वक्ता कठिन फारसी शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, जिसे अधिकतर लोग नहीं समझ सकते हैं। केवल हिन्दू ही नहीं, अधिकतर मुसलमान भी उसे नहीं समझ पाते।'' कांग्रेस की यह आलोचना जहां यह स्पष्ट करती है कि कांग्रेस ने भाषा के मुद्दे पर कोई स्पष्ट नीति नहीं बनाई थी, वहीं यह भी कि इस तरह की आलोचना के जरिये हिन्दी पक्ष पर कांग्रेस पर दबाव भी बनाया जाता था।

गांधी के प्रभाव क्षेत्र तक प्रायः कांग्रेस की भाषा नीति हिन्दुस्तानी समर्थक की रहती थी, लेकिन उनके प्रभाव क्षेत्र के बाहर संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पक्ष मजबूत था। गांधी स्वयं सम्मेलन के साथ लंबे समय तक जुड़े रहे थे, लेकिन जब गांधी ने स्पष्ट रूप से हिन्दुस्तानी की तरफ अपना झुकाव व्यक्त किया था, तब ये संबंध असहज हो गए और गांधी को सम्मेलन छोड़ना पड़ा। इससे पहले गांधी के सहारे हिन्दी आंदोलन से जुड़े लोगों ने कांग्रेस में अपनी स्थिति मजबूत की और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पक्ष में माहौल बनाया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा से संबंध रखने वाले पुरुषोत्तमदास टंडन, कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुंशी, सेठ गोविन्ददास जैसे संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक अपने प्रभाव से कांग्रेस को हिन्दी के समर्थन में लाने के लिए प्रयत्नरत रहते थे। इस संबंध में ओम. पी. गौतम ने लिखा कि ''पुरुषोत्तमदास टंडन और के.एम. मुंशी जैसे हिन्दू राष्ट्रवादी, एक पैर कांग्रेस में और दूसरा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, आर्य समाज जैसे हिंदू संगठनों में रखते हुए (राजेन्द्र) प्रसाद के सामाजिक रूढ़िवाद में तो सहभागी होते थे, लेकिन उनके सेकुलरवाद में नहीं।'' पुरुषोत्तमदास टंडन और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी उन लोगों का नेतृत्व करते थे, जो 'हिन्दी' शब्द–प्रयोग और संस्कृतनिष्ठता के समर्थक थे। उन्होंने कई बार खुलकर हिन्दुस्तानी का विरोध किया था। जब राजेन्द्र प्रसाद ने बिहार में हिन्दुस्तानी कमिटी के तहत हिन्दुस्तानी की पाठ्यपुस्तकें और शब्दकोश बनवाने का काम किया था, तब भी हिन्दी समर्थकों ने उनका विरोध किया था।

इस तरह से यह देखा जा सकता है कि कांग्रेस में हिन्दी समर्थकों की मजबूत उपस्थिति थी और उस पर हिन्दी आन्दोलन के नेतृत्व का प्रभाव था। इस संबंध में ओम.पी. गौतम ने ठीक ही लिखा कि ''नेहरू, गांधी और प्रसाद जैसे व्यक्तित्वों की उपस्थिति भी सम्मेलन की हिन्दी नीति को प्रभावित करने में अप्रभावी रही। इसके उल्टे सम्मेलन समूह कांग्रेस में और बाद में 1950–60 में देश में भी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को प्राथमिकता दिलाने में सफल रहा।'' यद्यपि कांग्रेस का मुख्य नेतृत्व हिंदुस्तानी का समर्थक था, लेकिन वह हिन्दी समर्थकों के दबाव में रहता था। कांग्रेस को भाषा संबंधी अपनी नीति को अस्पष्ट ही रखने में फायदा यह था कि वह सब तरह के समूहों को अपने साथ रख सकती थी, लेकिन उस समय कांग्रेस में हिन्दी पर जोर देने वाला गुट अधिक प्रभावी था और उसने कांग्रेस के नेतृत्व को ही अपने प्रभाव में ले लिया था।

> *हिन्दी को हिन्दुओं की और उर्दू को मुसलमानों की भाषा समझना बेहूदा बात है।*
>
> – जवाहरलाल नेहरू

अनुवाद

ओसाना गोंजि किरित्सुबो

जापानी से अनुवाद : अनीता खन्ना

विचारधारा और साहित्य की दुनिया में अनुवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। यह एक तरफ जहाँ साहित्य से हमारा परिचय कराता है, वहाँ दूसरी तरफ सामाजिक विकास की प्रक्रिया को भी समझने में मदद करता है। यहाँ प्रस्तुत है, परिसर के पाठकों के लिए मूल जापानी, जर्मन और स्पेनी भाषा से कुछ अनुवाद। अनुवादकों में अनीता खन्ना, रामचंद्र गुप्ता और मीनाक्षी सुंद्रियाल जेएनयू के भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान में प्राध्यापक हैं।

बहुत पहले जापान में किसी सम्राट के शासन काल में राजमहल में नियुक्त परिचारिकाओं में से सम्राट को वह सर्वाधिक प्रिय 'किरित्सुबो नो कोई' नाम की (आगे 'कोई' के नाम से सम्बोधित) एक अत्याधिक रूपवती परिचारिका थी। सम्राट के विशेष झुकाव के कारण लोग सम्राट को ही – 'सम्राट–किरित्सुबो' नाम तक से पुकारने लगे थे। दूसरी ओर राजमहल की अन्य स्त्रियाँ 'कोई' के प्रति इसी कारण ईर्ष्या और द्वेष रखने लगी। वे 'कोई' को इधर–उधर के काम में लगाकर और उससे रूखा व्यवहार कर जताती भी रहती थी। अतः व्यथित 'कोई' घर वापिस जाने के लिए आतुर रहने लगी। यह जानकर सम्राट को अति खलने लगा; परंतु, उन्हें 'कोई' पर दया भी आने लगी। अतः वे उसका और भी अधिक ध्यान रखने लगे। वे लोगों की परवाह किये बिना 'कोई' का मन बहलाने के लिए अक्सर काव्य–संगीत समारोह इत्यादि का आयोजन करने लगे। ऐसे अवसरों पर 'कोई' को अपने साथ बैठाते। लेकिन, अब लोग और भी चिंता प्रकट करने लगे और उदाहरण देने लगे कि 'चीन' देश के फलाने सम्राट की भोग–विलास की प्रवृति के कारण उसके साम्राज्य का पतन हुआ'।

उधर 'कोई' के पिता दरबार में 'अज़ैचि नो दाईनागोन' के पद पर नियुक्त थे परंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् उसकी माता के पास सम्राट की अनुकम्पा के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहा। शायद 'कोई' के साथ पूर्व–जन्म का कोई संजोग रहा होगा कि उनके बीच में एक पुत्र भी पैदा हुआ ('पुत्र के नाम 'हिकारू नो किमिं' पड़ा और वह आगे चलकर 'गेंजि नो किमि' – छोटा राजकुमार कहलाया)।

'गेंजि' से पूर्व सम्राट का इचिनो मिंया नामक पुत्र था, जिसकी माँ 'कोकिदेन', की पुत्री थी। सम्राट का उत्तराधिकारी होने के कारण ज्येष्ठ राजकुमार सभी को प्रिय था। अन्यथा रूप–रंग में वह छोटे राजकुमार से तुलना के लायक भी नहीं था। सम्राट को भी विश्वास होनें लगा कि गेंजि के साथ उनका जन्म–जन्म का गहरा संबंध है।

सम्राट, अधिक से अधिक समय उस परिवार के साथ व्यतीत करने लगे जिससे 'कोई' के प्रति महल की स्त्रियों की जलन और द्वेष दोगुना हो गया। वह लोग कभी भी उसके रास्ते के बरामदे, पुल के पटकों आदि पर कूड़ा–कचरा बिखेर देते, जिससे पालकी उठाने वालों के कपड़े (किमोनो) नीचे से खराब हो जाते और उन्हें बुरा भी लगता। इतना ही नहीं कभी–कभी तो वे लोग 'कोई' को ड्योढि के बीच में रख के दोनो तरफ से दरवाजे बंद कर देते थे, जिसकी किसी को कानो कान खबर तक नहीं हो पाती थी।

नन्हा राजकुमार मात्र तीन वर्ष का था कि उसकी माता 'कोई' को बीमारी ने घेर लिया। अपनी अस्वस्थ के कारण उसने सम्राट से घर लौटने की अनुमति माँगी परंतु सम्राट नहीं माने। अंततः 'कोई' की माता, सम्राट से निरंतर विनती और निवेदन करके, उसे घर ले आई।

उसके वियोग से विह्वल सम्राट ने 'कोई' को जन्म–जन्म तक साथ निभाने का वायदे करते हुए उसे स्वयं पालकी में बिठाकर विदा किया। दुख से उनका

हृदय विदीर्ण हो रहा था और उन्हें अपनी सुध–बुध तक नहीं थी। उधर वहां रात्रि के प्रथम पहर 'कोई' की सांस टूट गई।

'ओतोगि' नामक स्थान पर उसकी अंत्येष्टि की गयी। बेटी के साथ जल–मरने के लिए तड़पती हुई 'कोई' की माता की वेदना, देखी नहीं जाती थी।

सम्राट जब जेष्ठ पुत्र 'इचिमिंया' को देखते थे तो उन्हें छोटे राजकुमार की याद सताने लगती थी। उन्होंने कुछ दासियों को राजकुमार की देख रेख के लिये वहां भेजा। एक दिन पतझड़ की एक तुफानी और सुनसान संध्या में सम्राट ने 'युकोई नो मियोबु' को छोटे–राजकुमार का हाल–पता लगाने के लिये उसकी नानी के पास भेजा। संदेशवाहिका मियोबु जाकर 'कोई' की माता से मिली।

माता ने 'कोई' के हार–शृंगार का सामान, उसके हाथ महल में वापिस भिजवा दिया। मियोबु ने आकर सम्राट को छोटे राजकुमार की स्थिति और नानी की हालत आदि का ब्यौरा देते हुए उसके द्वारा लिखी हुई कविता पेश की।

इचिनो मिंया की माँ (रानी केकिदेन) काफी समय तक सम्राट से मिलने तक नहीं आयी। शरद ऋतु की चाँदनी रातों में संगीत आदि के आयोजन में व्यस्त महारानी को देख कर लगता था मानों वह 'कोई' के गुजर जाने की खुशियाँ मना रही हो। उसका यह रूखा व्यवहार देखकर, लोग तरह–तरह की बातें बना रहे थे। सम्राट नानी की व्यथा के बारे में सोचते रहते। समय बीतता गया और फिर छोटे राजकुमार ने महल में प्रवेश किया। इसके अगले वर्ष 'इचि नो मिंया' को सम्राट का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। जबकि सम्राट की इच्छा थी कि जेष्ठ पुत्र की अपेक्षा छोटे–राजकुमार को युवराज बना दिया जाये, परन्तु सबके विरोध के भय से यह विचार उन्होंने अपने मन में ही दफना दिया।

फिर एक दिन उसकी नानी की मृत्यु से सम्राट की मृत्यु से सम्राट को गहरा आघात पहुँचा और पुरानी यादें फिर से ताजा हो आयीं।

छोटा राजकुमार सात बरस का हो गया था। अतः उसकी पढ़ाई–लिखाई प्रारम्भ कर दी गयी। पढ़ाई के साथ–साथ वह कोतो – बाद्य, बंशी आदि बजाने में भी निपुण था। उसके वाद्य के संगीत का स्वर आकाश भर में गूँजित हो उठता। उसी समय विदेश से एक पण्डित आया। राजकुमार को देखकर वह अति प्रभावित हुआ और छोटे–राजकुमार के रंग–रूप के अनुरूप उसे हिकारू किमि (दीपायमान राजकुमार) का नाम दिया।

सम्राट ने राजनीति को ध्यान में रखते हुए छोटे राजकुमार को गेंजि का नाम देकर युवराज के पद से दूर रखने का निश्चय किया। समय भी सम्राट के मन से 'कोई' की यादें नहीं निकाल सका। उनके दिल बहलाव का कोई चारा किसी को नज़र नहीं आता था। तभी 'नाईशि नो बेन' ने उनसे पूर्व–सम्राट की चौथी सुपुत्री, सम्राट ने राजनीति को ध्यान में रखते हुए नन्हें राजकुमार को गेंजि का नाम देकर, युवराज के पद से दूर रखने का निश्चय किया।

समय बीतने के बाद भी सम्राट के मन से कोई भी यादें नहीं निकाल सका। उनके दिल को बहलाने का कोई चारा नज़र नहीं आता था। 'नाईशि नो बेन' ने उन्हें पूर्व–सम्राट की चौथी सुपुत्री, एक उत्कृष्ट सुन्दरी की चर्चा की। यह युवती देखने में 'कोई' से बिल्कुल मिलती थी। अतः सम्राट का उसकी तरफ आकर्षित होना स्वाभाविक था और वह अक्सर उससे मिलने जाने लगे।

राजकुमारी के निवास, 'फुजित्सुबों' जाते समय वह गेंजि को भी साथ ले जाते थे गेंजि जब बारह वर्ष का हुआ तो उसके व्यस्क होने के अनुष्ठान के अनुरूप 'सादाईलिन' की सोलह वर्ष की सुपुत्री को उसकी अर्धांगिनी चुना गया। (इसका नाम आओई नो उए था)

उस रात को 'गेंजि नो किमि' सदाईज़िन के महल पर था। इस 'सदाईज़िन' का सुपुत्र 'कुरौदो नो शौशौ' निज़ो के 'ऊदाईज़िन' का सुपुत्री के साथ विवाह सम्पन्न हुआ था।

'गेंजि नो किमि' को अपनी अर्धांगिनी में अधिक रूचि नहीं थी। वह फुजित्सुबो की छवि को दिल में समेटे, बार–बार उससे मिलने जाता था। किन्तु अब वयस्क होने के कारण गेंजि नो किमि का भीतरी–कक्ष में खुले आना–जाना सम्भव नहीं था। अतः वह अपनी बंशी और कोतो–वाद्य के संगीत के स्वरों के द्वारा अपनी अनुभूति उस पर प्रकट उस तक वह एक दूसरे के आकर्षण में बंधते गये।

जर्मन कहानी

अपराध-बोध

लेखक : हादनरिष ब्योल
अनुवादक : रामचंद्र गुप्ता

अपने व्यवसाय के बारे में बात करते हुए मुझे तनिक हिचकिचाहट होती है। हालाँकि इसी व्यवसाय से मेरे परिवार का पालन–पोषण होता है, लेकिन कई बार मुझे इसके कारण विवश होकर ऐसे काम करने पड़ जाते हैं कि मेरी अंतरात्मा मुझे कचोटती रहती है : मैं नगर–निगम के श्वान–कर विभाग में कर्मचारी हूँ। मेरा काम है नगर में घूम–घूमकर उन कुत्तों का पता लगाना जिनका पंजीकरण नहीं हुआ है। मैं, छोटे कद का गोल–मटोल आदमी, मुँह में औसत मूल्य का सिगार लगाए पार्कों और शान्त गलियों में ऐसे घूमता रहता हूँ जैसे कोई सामान्य व्यक्ति टहल रहा हो। इसी दौरान मैं किसी न किसी बहाने उन लोगों से बातचीत शुरू कर देता हूँ जो अपने कुत्तों को घुमाने लाए होते हैं। बातों ही बातों में उनके नाम और पते जान लेता हूँ और प्यार से कुत्ते की गर्दन सहलाता हूँ, इस उम्मीद से कि वह शीघ्र ही मुझे पचास मार्क की आय कराएगा।

मैं उन कुत्तों को आसानी से पहचान लेता हूँ जिनका पंजीकरण हो चुका है, मानों जैसे सूंघ लेता हूँ, महसूस कर लेता हूँ, जब कोई नालायक कुत्ता बेफिक्र होकर किसी पेड़ से सटा उसे गीला कर रहा होता है। मेरी विशेष रुचि उन गर्भवती कुतियों में होती है जो भावी करदाताओं को जन्म देने के लिए लालायित दिखाई पड़ती है : मैं उन पर कड़ी नजर रखता हूँ, बच्चों के जन्म की तिथि को अच्छी तरह याद कर लेता हूँ और पता लगा लेता हूँ कि उन्हें कहाँ ले जाया गया है। उन्हें आराम से तब तक बड़ा होने देता हूँ जब उन्हें गायब करना सम्भव न रहे, और तब उन्हें कानून के हवाले कर देता हूँ।

शायद मुझे कोई दूसरा व्यवसाय चुनना चाहिए था क्योकि मुझे कुत्तों से बहुत लगाव है, और इस कारण मुझे सदैव पापबोध–जन्य आत्मिक कष्ट का सामना करना पड़ता है। मेरे सीने में कर्त्तव्य और स्नेह के बीच संघर्ष चलता रहता है, और मैं निस्संकोच स्वीकार करता हूँ कि कभी–कभी स्नेह का पलड़ा भारी हो जाता है। कुछ कुत्ते ऐसे होते हैं जिनकी सूचना मैं अपने विभाग को नहीं दे पाता, जिनके लिए मैं आँखें मूँद लेता हूँ। मेरे हृदय में उमड़ने वाली विशेष सहानुभूति का एक कारण यह भी है कि मेरे अपने कुत्ते का भी पंजीकरण नहीं हुआ है : एक संकर प्रजाति का कुत्ता जिसका मेरी पत्नी स्नेहपूर्वक पालन–पोषण करती है, जिसके साथ मेरे बच्चे प्यार से खेलते हैं, इस बात से बिल्कुल बेखबर कि वे एक गैरकानूनी प्राणी पर अपना स्नेह न्योछावर कर रहे हैं।

मनुष्य का जीवन भी कितना जोखिम–भरा होता है। शायद मुझे इतना लापरवाह नहीं होना चाहिए था। परन्तु न जाने क्यों मुझे यह विश्वास हो गया कि कानून का रखवाला होने के नाते मुझे किसी हद तक इसे तोड़ने–मरोड़ने का भी अधिकार प्राप्त है। मेरा कार्य बहुत कठिन है : नगर के बाहरी इलाकों में काँटेदार झाड़ियों में घंटों हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता हूँ और प्रतीक्षा करता हूँ कि किसी मकान से, जिसमें मुझे गैर–पंजीकृत कुत्ते की मौजूदगी का शक है, भों–भों की आवाज सुनाई दे। या फिर टूटी–फूटी दीवारों के पीछे छिपा किसी फॉक्स टेरियर की घात में बैठा रहता हूँ जिसके बारे में मुझे संदेह हो कि वह कार्ड–धारक नहीं है, उसका खाता नहीं

खुला है। इसके बाद मैं थका–हारा, मैले कपड़ों में घर वापस आता हूँ, हीटर के पास बैठकर सिगार पीता हूँ और अपनी ऊँगलियों से प्लूटो की खाल को सहलाता रहता हूँ जो अपनी पूँछ हिलाते हुए मुझे मेरे अस्तित्व के विरोधाभास का स्मरण दिलाता रहता है।

यही कारण है कि मैं रविवार के दिन अपनी पत्नी, बच्चों और प्लूटो के साथ लम्बी सैर पर जाना पसन्द करता हूँ, ऐसी सैर जिसके दौरान मैं निष्काम भाव से कुत्तों में दिलचस्पी ले सकता हूँ, क्योंकि रविवार को गैर–पंजीकृत कुत्ते भी निगरानी से बाहर होते हैं।

परन्तु आगे से मुझे अपनी सैर का रास्ता बदलना पड़ेगा, क्योंकि लगातार दो रविवारों को मेरा सामना अपने विभागाधिकारी से हो चुका है, जो हर बार रुक कर मेरी पत्नी और बच्चों से बातें करते हैं और प्लूटो को सहलाने लगते हैं। परन्तु अजीब बात है कि प्लूटो उन्हें पसन्द नहीं करता। वह गुर्राने लगता है और झपटने के लिए तैयार हो जाता है। यह देखकर मेरे तो होश उड़ जाते हैं और मैं शीघ्रता से वहाँ से चल पड़ने के लिए विवश हो जाता हूँ। मेरे अधिकारी मेरे माथे पर एकत्र पसीने की बूँदों को देखने लगते हैं और उनके माथे की लकीरों को देखकर मुझे लगता है कि उन्हें मुझ पर सन्देह होने लगा है।

शायद मुझे प्लूटो का पंजीकरण करा लेना चाहिए था, लेकिन मेरी आय बहुत कम है। शायद मुझे अपना व्यवसाय बदल लेना चाहिए था लेकिन मैं पचास वर्ष का हो चुका हूँ, और इस आयु में व्यवसाय बदलना आसान नहीं होता। जो भी हो, मेरा जोखिम बढ़ता जा रहा है, और मैं प्लूटो का पंजीकरण अब भी करा लेता यदि यह सम्भव होता। परन्तु अब तो यह सम्भव ही नहीं रहा : मेरी पत्नी ने बातों ही बातों में मेरे अधिकारी को बता दिया है कि यह कुत्ता हमारे पास पिछले तीन साल से है, यह हमारे परिवार का हिस्सा बन चुका है और हमारे बच्चे तो इससे दूर ही नहीं होना चाहते, और न जाने क्या कुछ, जिनके कारण अब प्लूटो का पंजीकरण कराना बिल्कुल असम्भव हो गया है।

अब मैं व्यर्थ ही अपने अन्तःकरण में चल रहे संघर्ष पर विजय पाने का प्रयास करता हूँ और दुगने उत्साह से अपना कार्य करता हूँ, परन्तु कोई लाभ नहीं। मैंने अपने आप को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ से बाहर निकलना मुझे असम्भव प्रतीत होता है। वैसे तो कहा गया है कि किसी के मुँह से निवाला छीनना अच्छी बात नहीं है, परन्तु पता नहीं कि मेरे अधिकारी इतने नरमदिल इंसान हैं या नहीं, वे इन दार्शनिक बातों पर यकीन करते हैं या नहीं। मैं हताश हो चुका हूँ। लोग मुझे सनकी समझते होंगे, और हों भी क्यों न : हमेशा कुत्तों के काम में जो लगा रहता हूँ।

हम हिन्दी भाषा के मसले में बुद्धिमानी से काम लें, इसको 'एक्सक्लूसिव' के बदले 'इंक्लूसिव' बनाएं और इसमें भारत की उन सभी भाषाओं के तत्वों को शामिल करें जिनसे यह बनी हैं, कुछ उर्दू के छींटे हों और हिन्दुस्तानी भी हो।

– जवाहरलाल नेहरू, संविधान सभा में

मुल्क की कौमी जबान वही हो सकती है जो उत्तरी हिन्द की जबान है। लेकिन उत्तरी हिन्द की जबान के लिए अब तीन नाम पैदा हो गए हैं– उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और सारा झगड़ा इस बारे में है कि उसे किस नाम से ताबीर करना चाहिए। कुदरती तौर पर इन नामों के पीछे जबान के अलग–अलग रूप आकर खड़े हो गए हैं और झगड़ा नाम का नहीं है, उस रूप का है जो नाम के साथ जुड़ गया है।

– अबुल कलाम आजाद

स्पेनी कविताएं

रोबेर्तो फेरनांदेस रेतामार की दो कविताएं

अनुवाद : मीनाक्षी सुन्द्रियाल

1930 में हवाना, क्यूबा में जन्मे रोबेर्तो फेरनांदेस रेतामार लातिनी अमरीका के जाने माने कवि और आलोचक हैं। उनकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हैं। 1951 में अपनी पहली ही पुस्तक "पात्रियास" के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित हुए। अपने लेखन के लिए दुनिया भर के कई अन्य देशों द्वारा भी सम्मानित हुए। इसके अलावा वह 'कासा दे लास अमेरिकास' (क्रांति के बाद स्थापित सांस्कृतिक संस्था) के अध्यक्ष भी हैं। उनकी दो कविताओं का मूल स्पेनी से हिंदी अनुवाद यहां प्रस्तुत है। प्रस्तुत कविताएं 'एल ओत्रो' (दूसरा) व 'फेलीसेस लोस नोरमालेस' (सुखी सामान्य लोग) उनके कविता संग्रह क्रमशः "वुएल्ता दे ला आंतीगुआ एस्पेरांसा" (पुरानी उम्मीद का लौटना, 1959) व "बुएना सुएर्ते विनियेंदो" (खुशनसीबी जीते हुए, 1967) से ली गयी है।

दूसरा

हम जो जीवित बच निकले हैं,
कौन है जो कारण बना हमारे बच निकलने का?
कौन मरा मेरे लिए एर्गेस्तुलुम में?
किसने खाई गोली अपने सीने पर
नाम लिखा था जिस पर मेरा?
किस लाश के ऊपर जी रहा हूँ मैं?
उसकी हड्डियां मेरी हड्डियों में समायी हैं,
उसकी निकाल ली गयीं आँखें देखती हैं
मेरी नज़र से
और यह हाथ जो उसका नहीं है,
जो अब मेरा भी नहीं है,
लिखता है टूटे शब्द
जहाँ वह नहीं है
इस दूसरे जीवन में?

सुखी सामान्य लोग

सुखी सामान्य लोग, वे अद्भुत जीव,
वे जिनके पास नहीं है एक पागल मां, एक
पियक्कड़ बाप, एक अपराधी बेटा
एक घर जो कहीं नहीं है, एक बीमारी अनजानी,
वे जो कभी राख नहीं हुए किसी के इश्क की
आग में
वे जो जीते हैं मुस्कुराहट के सत्रहों चेहरे, और
कुछ और भी
वे सूट बूट, हैट पहने फरिश्ते
वे तृप्त, मोटे, सुंदर
वे रिनतिंतीन और उसके चाहने वाले
वे 'ज़रूर!' 'इधर से जनाब' वाले
वे हमेशा जीतने वाले, चाहा जाता है जिन्हें हद
दर्ज़ा
वे बांसुरी की धुन से चूहों को मोहते
वे बेचने वाले और उनके खरीदने वाले
महामानवीय अंदाज लिये संभ्रांत जन
बिजली की पोशाक में आदमी और औरतें
वे नाजुक, वे संवेदनशील, वे उत्तम
वे स्नेही, मधुर, वे खाने योग्य व पीने योग्य
सुखी पंछी, खाद, पत्थर

छोड़ें मगर जगह अब उनके लिए जो बनाते हैं
संसार और स्वप्न
मायावी मंजर, सिफनियां, शब्द जो हमें तोड़ देते हैं
और जो हमें निर्मित करते हैं
वे जो अपनी मांओं से ज्यादा पागल हैं
अपने बापों से ज्यादा मदमस्त
अपने बच्चों से ज्यादा बड़े अपराधी
और भी ज्यादा राख हुए जो चाहतों की आग में
उन्हें उनकी जगह दे दें नरक में, बस।

कविता

गोबिंद प्रसाद कवि, चित्रकार और भारतीय भाषा केंन्द्र में प्राध्यापक हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं, उनकी कविता।

हालाँकि तुम जो मेरे सपनों में नहीं हो

गोबिंद प्रसाद

हालाँकि तुम जो मेरे सपनों में नहीं हो
भूली हुई ज़िन्दगी की तरह

लौट आओगे एक दिन चुपचाप
कुछ इसी तरह
जैसे कमरे की हर चीज़
पड़ी हो ... धरी हो वहीं, अपने जनम से
उसी जगह उसी कोने में
अपने होने को कुछ इसी तरह जताओगे
कि मैं, ...मैं कहाँ गया था मैं तो यहीं खड़ा हूँ
बरसों से अपने चीन्हे-अनचीन्ह
पल-पल अपने होने-होने में
तुम्हारे नेह की चादर में भीगा-सा
लिपटा, ठहरी हुई लय के भीतर
मंद्र में गूँजता, विसर्जित वलय में अजन्मे अर्थ का प्रवाह लिए
बहता-ठिठकता,
चल-अचल छायाओं-सा

तुम्हारे रोष भरे जीवन में
जगह बदल देने से चीज़ों के आयाम बेशक बदल जाते हों
आँखों में उनके ठहरे हुए अक्स, ज़ह्न पर नक्श कहां बदलते हैं
उनका जगह बदलना, उनका टूटना, मिटना भी
मन कब भूलता है
चेतना में सब समाया रहता है, आँखों में सब बना रहता है

तुम्हारे रोष भरे जीवन में
ठहरी हुई ओस की बूँद सा पत्तियों की नोंक पर ठिठका
अपनी हर ढुलकन में उजाले की किरन बिछाता
कुछ ऐसे ही रहा—अपने आप को भी अपने से छिपाए
शामिल करता हुआ अपनी बेखुदी में
तुम्हारी छुवन को,

ज़िन्दगी के उलझे हुए धागों-सा बेरंग
भटकता रहा उदास अपनी रंगीनियाँ लिए
तुम्हारे रोष भरे जीवन में
... भूले हुए सपने की तरह!
सहमा-सा रहा
अपनी मौजूदगी लिए अजब तौर पर....

•

□ *संदीप चटर्जी*

डॉ. संदीप चटर्जी कवि और कहानीकार के साथ–साथ जेएनयू के कुलसचिव भी हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं, उनकी दो कविताएँ।

दामिनी तुम हो दीया

सफर पर चल पड़ी थी तुम
थी मंजिल पर पहुंचने की चाह
यात्रा में साथी, सच्चा सहयोगी भी
पर चालक था क्रूर, वाहन में स्क्रीन और पर्दे।

कुछ दूर चली, कि शुरू हुआ युद्ध
था भेड़ियों से सामना, मुश्किल वक्त
लहुलुहान हुआ शरीर, जख्म, आंतों में चोट
सहयोगी की थी हर संभव कोशिश, साहस गाथा।

शौर्य से थी भरपूर तुम
भयभीत थे वे छह नर पशु
डाल गए तुम्हें देर रात सुनसान राह पर
तुम नहीं हारी, प्रतिरोध की ली उत्तीर्ण दिशा।

शुरू हुआ आक्रोश, जनमानस उमड़ा
तुम्हारी शौर्य शक्ति से मोहित सभी
रूपक बन, दिया समाज को मनुष्यत्व का पाठ
दरिंदगी अब और बर्दाश्त नहीं ।

सृष्टि की पालनहार को देना होगा सम्मान
फिर से हम–तुम शामिल हों एक नयी यात्रा में
जिसमें हो सम्मान, सृजन्ता का वाद्य
मातृरूप से परिचय हो, हर पुरूष कर्मठ का
चिंतन हो, विकास हो मन–मस्तिष्क का
खुले संबंध एवं उन्नति के स्वर्णद्वार।

आज तुम हमारे बीच नहीं
जल रहे है मौन चारों ओर दीये
लौ ने जगा दी है सब की रूह
रखें नारी सम्मान को संभाल सतेज कर
हो यदि दामिनी, अमानत, जागृति या निर्भया
हर रोज हो उजाला, सिर्फ तुम्हारे लिए।

तुम अब बनी रहो हमारी सम्मान शिखा
दामिनी तुम ही तो हो दीया, हम पथिक तुम्हारे
ढूंढे तुम्हे अब कहाँ, हम जाएं किधर
तुम बनी रहो दीया, कल उजाले के लिए।।

पुष्पान्जलि.....

तुम देवी हो आराध्य हमारी
तुम शक्ति हो जनमानस की।
तुम प्रेरणा हो हर कर्मठ की
तुम मातृरूपेण हो सभी भक्तों की।
हे मां, स्वीकार करो मेरी पुष्पान्जलि।।

तुम दिशा–ज्ञान हो पथिकों की
तुम साहस, समृद्ध, स्फूर्ती हो।
तुम करूणा हो, व्यक्तित्व विराट
तुम शौर्य कर्म की गाथा हो।
हे मां, स्वीकार करो मेरी पुष्पान्जलि।।

तुम शीतल हो, सभी स्नेहित को
तुम प्रेरणा हो, जागरण का आभास।
तुम महिला शक्ति की परिचायक हो
तुम उत्सव की अविरल ऋतु।
हे मां, स्वीकार करो मेरी पुष्पान्जलि।।

तुम नारी की सम्मान शिखा
तुम सौन्दर्य, गुणों का संगम हो।
तुम कर्म वाहिनी, उत्तीर्ण दिशा
तुम शक्ति स्वरूपणी नारी हो।
हे मां, स्वीकार करो मेरी पुष्पान्जलि।।

तुम वाद्य, मृदंग हो सृजन्ता की
तुम कल्पना हो, हर शिल्पी की।
तुम सम्पूर्ण सृष्टि की पालनहार
तुम उन्नति, विकास की रूपकद्वार।
हे मां, स्वीकार करो मेरी पुष्पान्जलि।।

रमेश चंद्र जोशी कवि हैं और जेएनयू प्रशासन में लंबे समय से सेवारत हैं।

चमकूँ दिव्य सितारा बन कर विश्व नभ मण्डल पर

रमेश चन्द्र जोशी

जनेवि हूँ मैं कोई व्यक्ति विशेष नहीं
न कोई राजनीति, न कोई विशेष धर्म से संबंधित,
मैं तो हूँ मात्र एक संस्था, भारत मां का संकल्प
न किसी एक भाषा या प्रदेश से
न ही भूला मैं पंडित नेहरू का "गुरुमन्त्र"–
इंसानियत, सहनशीलता, विश्व बंधुत्व से बँधकर
करना है हमें सत्य की खोज निरन्तर
देश की सेवा में जुझारू बनकर
रहेगा 'गुरुदेव' का वसुधैवकुटम्बकम् सर्वोपरि।

पढ़–लिख कर जो बड़े हुए मेरी गोद में अब तक
विश्व भर में बिखरे हैं वे सब 'मोती' बनकर –
गर्व है मुझे आज स्वयं पर
अपने ही जन्म दिन पर
पड़ता जो हर वर्ष 13 नवम्बर –

इंदिरा जी का बोया बीज,
खड़ा हुआ आज वृक्ष बन कर
विज्ञान भवन से किया शुरू सफ़र
पहुँच गया आज अंतरराष्ट्रीय मंच पर –

ज्ञान, विज्ञान, पर्यावरण का मिश्रण
बना बुद्धि, गुण कौशल का गढ़
देखो कितना सुन्दर हरा–भरा मेरा परिसर –
अगणित फूलों की सुन्दरता में
गुंजन मधुर करते भंवरे निरन्तर –
नाच रहे चिड़ियों की चहक में 'मयूर' आनन्दित होकर –
नील गायों के कंधों पर झूम रहे कौवे फर–फर –
छाया बसंत यहां बारों मास आओ देखो मेरा परिसर।

ये सारे हॉस्टल, दफ्तर, स्कूल सेंटर –
बन गये आज विश्व स्तर के कार्यस्थल,
घने जंगल में बसा हुआ देखो तुम मेरा घर
तुम्ही बताओ क्यों न होगा आज गर्व मुझे स्वयं पर –

मैं भारत का गौरव हूँ, सबकी आँख का तारा हूँ,
रिसर्च बुद्धि की दुनिया में निरन्तर अग्रसर
मैं कवियों के साहित्य का चिन्तन हूँ –
ज्ञानियों के बुद्धि का मन्थन हूँ,
ज्ञान, विज्ञान तर्क शास्त्र में –
भाँति–भाँति के भाषाओं में पारंगत हूँ।
उन्मुक्त हूँ मैं श्रेष्ठ हूँ नवल धवल होकर निखरा हूँ,
विश्व नभ मण्डल के क्षितिज पर –

कल की मुझको फिक्र नहीं लाल जी पलते मेरी गोदी में,
मेरा कर्ज चुकाने को तत्पर हर पल–पल, निरन्तर –
हक अदा किया मेरे नमक का जिसने भी,
आभारी हूँ मैं उन सबका ही –
विद्यार्थी हो एक शिक्षक या फिर कर्मचारीगण
करो आज कामना सब मिलजुल कर
मेरे इस शुभ जन्म दिन के सुवसर पर
निखरूं मैं हर क्षण पल–पल
भारत भाग्य विधाता बन कर –
करूं सारे सपने साकार, चलता ही रहूँ 'सुपथ' पर –
चमकूँ विश्व नभ मण्डल पर
एक दिव्य सितारा बन कर
मैं तो जेनेवि हूँ, मार्ग दर्शक हूँ जन–जन का
क्यों न हो मुझे आज गर्व स्वयं पर–पर।।

अंतर विमर्श

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में भाषा प्रौद्योगिकी शोध एवं विकास

गिरीशनाथ झा तथा दिवाकर मिश्र

गिरीशनाथ झा भाषा प्रौद्योगिकी के जानकार और जेएनयू में संस्कृत के प्राध्यापक हैं। दिवाकर मिश्र शोधछात्र है और भाषा तकनीकी में दिलचस्पी रखते हैं।

भाषा प्रौद्योगिकी या संगणकीय भाषाविज्ञान आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस या कृत्रिम प्रज्ञा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । मशीन के अन्य अंगों की अपेक्षा सर्वाधिक कठिन है मशीन का मस्तिष्क या मन बनाना। और मन तक पहुँचने का स्थूल और व्यावहारिक साधन भाषा ही है। कृत्रिम प्रज्ञा की जो शाखा मशीन को मानवीय भाषा की समझ और रचना में सक्षम बनाती है, वह संगणकीय भाषाविज्ञान या कम्प्यूटेशनल लिंग्विस्टिक्स के नाम से जानी जाती है। इसीलिए यह आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन जाता है ।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र में विशेषतः संस्कृत तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं के लिए संगणकीय भाषावैज्ञानिक शोध और विकास कार्य सन् 2002 से चल रहा है । भारत में इस क्षेत्र में शोध और विकास प्रारंभ हुए अभी कुछ ही दशक हुए हैं। भारत में इसके केन्द्रों में प्रमुख हैं– IIIT हैदराबाद, IIT कानपुर, IIT मुंबई, कुछ अन्य प्रमुख IIT और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, हैदराबाद विश्वविद्यालय, भारतीय विज्ञान संस्थान (IISc), केन्द्रीय इलेक्ट्रॉनिकी अभियान्त्रिकी अनुसंधान संस्थान (CEERI), टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान (TIFR), टाटा कन्सल्टेन्सी सर्विस (TCS) इत्यादि । इनके अतिरिक्त माइक्रोसॉफ्ट, गूगल, याहू, आईबीएम, एचपी आदि प्रमुख व्यावसायिक कंपनियाँ भी भारतीय भाषाओं में भाषा प्रौद्योगिक शोध एवं विकास कर रही हैं । भारतीय भाषाओं के लिए सॉफ्टवेयर निर्माण की आवश्यकता को समझते हुए, सूचना–प्रौद्योगिकी मंत्रालय (MCIT) "भारतीय भाषाओं के लिए प्रौद्योगिकी विकास" (TDIL) कार्यक्रम को संचालित कर रहा है।

भाषाई विविधता का समुद्र होने के साथ–साथ भारत वैश्विक सूचना–तकनीकी विकास का गढ़ भी रहा है । भारत की तकनीकी प्रतिभा को कई भाषाई समस्याओं के समाधान और मृतप्राय भाषाओं के संरक्षण की ओर मोड़ा जा सकता है। भाषा–प्रौद्योगिकी को मोटे तौर पर निम्नलिखित क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है–

- फॉन्ट, इनकोडिंग उपाय, सम्पादक और सामग्री निर्माण तन्त्र
- दृश्याक्षर अभिज्ञान (Optical Character Recognition& OCR)
- लेखाभण्डार (Data warehouses)
- उपभाषा चित्रण (Mapping)
- बहुभाषीय सूचनास्रोत (Resources)
- एक/द्वि/बहुभाषीय मानव भाषा अन्तर्फलक (Interface)
- यान्त्रिक (सहाय्य) अनुवाद तन्त्र
- ऑनलाइन सूचनास्रोत एवं खोज–यन्त्र (Search & engine)
- वागभिज्ञान एवं संश्लेषण तन्त्र (Speech recognition and synthesis)
- प्रमुख सॉफ्टवेयर का स्थानिकीकरण (Lo calization)
- ई–शिक्षण तकनीक (E Learning)
- कोश तथा कॉर्पस निर्माण (Lexicon and Corpora development)

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र में भाषा–प्रौद्योगिकी :

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र में पिछले कुछ वर्षों से संगणकीय भाषाविज्ञान में हो रहे शोध कार्य को चार भागों में बाँटा जा सकता है – शिक्षण एवं शोध, परियोजनाएँ, कंसल्टेंसी तथा संगोष्ठियाँ स्वयं लेखक द्वारा शोध एवं परियोजनाओं के परिणाम स्वरूप विकसित सिस्टम केन्द्र की वेबसाइट http://sanskrit-jnu-ac-in पर उपलब्ध हैं। एम.फिल. एवं पीएच.डी. में प्रायः संस्कृत व भाषाविज्ञान केन्द्रों के छात्र तथा कुछ हिन्दी के छात्र शोध कर चुके हैं और कर रहे हैं तथा कुछ विश्वविद्यालय के बाहर के छात्र भी संयुक्त–निर्देशन में शोध कर रहे हैं। इस केन्द्र में एम.ए. व एम.फिल स्तर पर भाषाविज्ञान व भाषा प्रौद्योगिकी सम्बन्धी निम्नलिखित पाठ्यक्रम उपलब्ध हैं – इंट्रोडक्शन टू कम्प्यूटेशनल लिंग्विस्टिक्स, कम्प्यूटेशनल लिंग्विस्टिक्स टूलकिट, मल्टीमीडिया स्टोरेज एण्ड रिट्राइवल सिस्टम फॉर कल्चर, कम्प्यूटर अप्लीकेशन फॉर संस्कृत, संस्कृत एण्ड इंडियन लैंग्वेजेज, स्ट्रक्चर एण्ड हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लैंग्वेज, हिस्टोरिकल एण्ड कम्परेटिव लिंग्विस्टिक्स। इसी पृष्ठभूमि में विभिन्न छात्रों ने अपने एम.फिल. और पीएच.डी. शोधकार्यों के रूप में संस्कृत भाषा विश्लेषण के कई उपकरण विकसित किए हैं। ये हैं – सुबन्त–विश्लेषक (subanta analyzer), तिङन्त–विश्लेषक (tinanta analyzer), सन्धि–विच्छेदक (sandhi&splitter), संस्कृत लिंग–अभिज्ञान, कारक–विश्लेषक (karaka analyzer), शब्दवर्ग–अंकक (POS tagger), अंदमानी क्रिया–विश्लेषक (Andamanese verb analyzer), कृदन्त विश्लेषक, हिन्दी बहुवर्थ शब्द (homonyms) विश्लेषक, संस्कृत बहुवर्थ शब्द विश्लेषक, महाभारत, सुश्रुत संहिता, चरक संहिता, बृहदारण्यकोपनिषद् की ऑनलाइन अनुक्रमणियाँ, हिन्दी क्रियापद विश्लेषक, संस्कृत नाम (व्यक्तिवाचक संज्ञा) अभिज्ञान (named entity recognition)। इनके अतिरिक्त हिन्दी के विभिन्न शब्दवर्ग अंककों का तुलनात्मक अध्ययन, संस्कृत ई–शिक्षण, संस्कृत हिन्दी संज्ञापद सम्मिलन, अंग्रेजी हिन्दी संज्ञापद सम्मिलन, डेटाबेस हेतु हिन्दी भाषा अन्तर्फलक (natural language interface for data-base) तथा कर्मकारक के अर्थवैज्ञानिक निरूपण पर भी शोध कार्य हुए हैं। चल रहे शोध कार्यों में संस्कृत वाक् संश्लेषण (Sanskrit speech synthesis), अमरकोश का अर्थवैज्ञानिक मॉडल, संस्कृत हिन्दी मशीन अनुवाद नियम, उदाहरण आधारित शब्दवर्ग अंकक तथा उदाहरण आधारित संस्कृत हिन्दी मशीन अनुवाद को उद्धृत किया जा सकता है।

इस केन्द्र में तीन परियोजनाएँ चल रही हैं तथा कुछ परियोजनाएँ पूरी हो चुकी हैं। चल रही परियोजनाओं में हैं – संस्कृत हिन्दी मशीन अनुवाद हेतु सामग्री निर्माण, भारतीय भाषा कॉर्पोरा उपक्रम (दोनो कंसोर्शिया प्रोजेक्ट) तथा भारतीय भाषा शब्द–विश्लेषक (मैथिली) परियोजना। इन परियोजनाओं में डॉ. डी.के. लोबियाल (कंप्यूटर स्कूल) तथा डॉ. देवेन्द्र कुमार चौबे (भारतीय भाषा केन्द्र) का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा है। मशीन अनुवाद सम्बन्धी परियोजना में शब्दकोश निर्माण, शब्दवर्ग अंकन मानक तथा तन्त्र निर्माण, संस्कृत कार्पोरा निर्माण तथा अंकन जैसे कार्यों के अतिरिक्त संस्कृत ई–शिक्षण के लिए मल्टीमीडिया पाठ तथा एनिमेटेड बाल–कथाएँ भी विकसित की गई हैं। कथाओं में पञ्चतन्त्र, हितोपदेश तथा जातक से तीस कथाएँ संस्कृत तथा हिन्दी में देखने के साथ साथ पढ़ी भी जा सकती हैं। ये कथाएँ ऑनलाइन उपलब्ध होने के साथ ही सीडी संस्करण में भी विकसित हुई हैं। कॉर्पोरा उपक्रम के प्रथम चरण में ज.ने.वि. के नेतृत्व में दस संस्थानों में बारह भारतीय भाषाओं में पचास हजार समानान्तर वाक्यों (कुल छः लाख) का शब्दवर्ग–अंकित कॉर्पस विकसित किया गया है । यह भारतीय भाषाओं में इतना व्यवस्थित पहला कॉर्पस है। ये बारह भाषाएँ हैं – हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी, बंगला, उड़िया, गुजराती, मराठी, कोंकणी, तमिल, तेलुगु और मलयालम। इसमें स्रोत भाषा के रूप में हिन्दी को लेकर स्वास्थ्य और पर्यटन विषयक वाक्यों का संग्रह करके अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया है। इसके नए चरण में पाँच भाषाएँ और जुड़ गई हैं – कन्नड़, नेपाली, बोडो,

असमी, मणिपुरी। इसके साथ अब ILCI कोन्शोर्शियम में अब (अंग्रेजी सहित) 17 भारतीय भाषाएं हैं और इसका नेतृत्व जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय कर रहा है। पूर्ण हो चुकी परियोजनाओं में प्रमुख हैं ऑनलाइन बहुभाषीय अमर कोश। इसमें विकसित तन्त्र में अमरकोश में आने वाले शब्द को खोजकर उसके पर्यायवाची तथा मूल शब्द के अनेक भाषाओं में अनुवाद प्राप्त किए जा सकते हैं ।

विभिन्न संस्थाओं के साथ कंसल्टेंसी के रूप में भी यहाँ शोध कार्य हुए हैं। माइक्रोसॉट के साथ कंसल्टेंसी के तहत भारतीय–भाषा टैगसेट विकसित किया गया जिससे अंकित संस्कृत का पहला कॉर्पस (पंचतन्त्र एवं हितोपदेश) लिन्विस्टिक डेटा कंसोर्शियम (LDC), द्वारा प्रकाशित किया गया है। माइक्रोसॉट के साथ ही 2006 में हस्तलेख अभिज्ञान हेतु विभिन्न हिन्दी क्षेत्रों से हस्तलेख नमूना संकलन का कार्य भी किया गया है। प्रगत संगणन विकास केन्द्र (C-DAC) के साथ कंसल्टेंसी के अन्तर्गत BhaarateeyaOO.o के साथ ओपेन–ऑफिस का स्थानिकीकरण (localization) संस्कृत में किया गया है जो TDIL की संस्कृत सीडी में उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त कई अन्य कंसल्टेंसी में प्रमुख हैं माइक्रोसॉफ्ट (अमेरिका) की मशीन अनुवाद तथा पेन्सिल्वैनिया विश्वविद्यालय के लिन्विस्टिक डेटा कंसोर्शियम (LDC) की मल्टीमोडल कार्पोरा की कंसल्टेंसी।

इस केन्द्र में स्वयं लेखक ने भाषा प्रौद्योगिकी सम्बन्धी कई छोटी बड़ी कार्यशालाओं तथा संगोष्ठियों का आयोजन समय–समय पर किया है। उनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय हैं। 31 मार्च से 1 अप्रैल, 2005 को हिन्दी एकक के साथ संगणक हेतु हिन्दी भाषा समर्थन एवं अनुकूलन पर एक द्विदिवसीय राष्ट्रीय कार्यशाला का आयोजन किया। इसमें होने वाली परिचर्चा हिन्दी–फॉन्ट निर्माण–पद्धति, विनिर्देश एवं मानक, सम्पादक, वर्तनी–जाँचक इत्यादि समस्याओं एवं उनके समाधान पर केन्द्रित रही। इस कार्यशाला में प्रमुख विश्वविद्यालयों, संस्थानों एवं सूचना–प्रौद्योगिकी मंत्रालय से आए हुए विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने कार्यों की रूप–रेखा प्रस्तुत की। निजी क्षेत्र की विभिन्न कंपनियों यथा – माइक्रोसॉफ्ट, वेबदुनिया, इन्ड–लिनक्स, सरल सॉफ्ट, शक्ति ऑफिस, डेल्ट्रा सॉफ्टवेयर, एवं एक्सपर्ट सॉफ्टवेयर ने स्थानिकीकरण से सम्बन्धित अपने कार्यों को प्रस्तुत किया। इस केन्द्र में ई–शिक्षण सम्बन्धी अनेक कार्यशालाएँ हुई हैं जिनमें मुख्यतः दिल्ली के स्कूलों के शिक्षकों एवं छात्रों को आमन्त्रित किया गया। अगस्त 2010 में हुई ई–शिक्षण सम्बन्धी कार्यशाला में सरकारी संस्थानों के प्रतिनिधियों ने संस्कृत शिक्षण में अपने प्रयासों को बताया तथा ई–शिक्षण सामग्री विकसित करने वाली कंपनियों – एडोबी, एडूकॉम्प आदि ने अपने संसाधनों तथा तकनीक का प्रदर्शन किया। संस्कृत संगणकीय भाषाविज्ञान का सबसे बड़ा आयोजन दो वर्ष पूर्व 10–12 दिसम्बर 2010 को 4जी International Sanskrit Computational Linguistics Symposium के रूप में हुआ। इस शृंखला के पहले तीन सम्मेलन क्रमशः पेरिस, ब्राउन विश्वविद्यालय (अमेरिका) और हैदराबाद में हो चुके थे । इसमें चयनित शोधपत्रों की प्रस्तुति के अतिरिक्त विशेषज्ञों के व्याख्यान भी हुए। इसकी प्रोसीडिंग्स को विश्व के प्रसिद्ध प्रकाशक स्प्रिंगर ने Lecture Notes in Computer Science सीरीज में प्रकाशित किया है।

संस्कृत संगणकीय भाषाविज्ञान विषय के छात्रों के कई शोध पुस्तकरूपेण शीर्ष प्रकाशकों जैसे कैंब्रिज, लैंबर्ट के द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं ।

भारतीय भाषाओं के लिए सूचना प्रौद्योगिकी शोध और विकास कार्य के लगभग तीन दशक हो गए हैं। विभिन्न शोध और विकास कर रही इकाइयों और भाषा–प्रौद्योगिकी और ज्ञानाधारित शोध कर रहे प्रमुख केन्द्रों के बीच संवाद की कमी अनुभव की जा रही है। यद्यपि विभिन्न संगोष्ठियाँ व कार्यशालाएँ इस दूरी को पाटने का प्रयास करती हैं; पर, इस संस्थाओं को निकट लाने में और प्रयास की आवश्यकता है। भारत भाषाई दृष्टि से एक विविधतापूर्ण चरित्र है और इसी कारण भाषा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में यान्त्रिक अनुवाद, ज्ञान–निरूपण आदि के लिए अवसर और आवश्यकता दोनों हैं ।

हिंदी विकिपीडिया उर्फ भाषा की रूढ़ समझ

गंगा सहाय मीणा

गंगा सहाय मीणा समकालीन सवालों को लेकर पत्र–पत्रिकाओं में लिखते हैं और जेएनयू में प्राध्यापक हैं।

विकिपीडिया इंटरनेट पर उपलब्ध, एक सर्वसुलभ विश्वकोश है। विकिपीडिया शब्द विकि और इनसाइक्लोपीडिया शब्दों को मिलाकर बना है। विकिपीडिया का मुख्य सर्वर टैंपा, फ्लोरिडा में है। विकिपीडिया की खासियत यह है कि इसका उपयोग निशुल्क होने के साथ ही इसे कोई भी पाठक संपादित कर सकता है। यानी संबंधित विषय पर अगर एक सामान्य पाठक भी सामग्री जोड़ना या बदलना चाहता है तो विकिपीडिया उसे यह अधिकार देता है। हर इच्छुक व्यक्ति इस वृहद आंदोलन का हिस्सा बन सकता है। जोड़ी या संपादित की गई सामग्री पर विकिपीडिया के वरिष्ठ योगदानकर्ता और प्रबंधक नजर रखते हैं ताकि कोई विकिपीडिया के लोकतांत्रिक स्वरूप का फायदा उठाकर अवांछित सामग्री न जोड़ पाये। विकिपीडिया के संस्थापक जिमी वेल्स के शब्दों में यह "विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के लिए, उनकी अपनी भाषा में एक बहुभाषीय, मुक्त, सबसे अधिक मुमकिन गुणवत्ता वाला विश्वकोश बनाने और वितरित करने का एक प्रयत्न है।" इसी के तहत विकिपीडिया ने विश्वकोश की उन्नत सामग्री को संजोकर सीडी निर्माण का कार्य भी शुरू किया है।

विकिपीडिया अंग्रेजी के अलावा भी दुनिया की कई बडी भाषाओं में उपलब्ध है। भारतीय भाषाओं में हिंदी, बांग्ला, मराठी, मलयालम, तमिल, उड़िया, संस्कृत आदि में विकिपीडिया उपलब्ध है। हिंदी विकिपीडिया इस जुलाई में अपने दसवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है लेकिन इसके बावजूद वह अंग्रेजी विकिपीडिया (जो कि उससे उम्र में मात्र दो वर्ष बड़ा है) की तुलना में काफी पिछडा हुआ है। नामांकित सदस्यों की संख्या 68 हजार से अधिक होने के बावजूद हिंदी विकिपीडिया की हालत खस्ता है। उल्लेखनीय है कि कोई भी व्यक्ति नामांकित सदस्य बने बिना भी योगदान दे सकता है। अंग्रेजी विकिपीडिया पर उपलब्ध 40 लाख लेखों की तुलना में हिंदी विकिपीडिया पर मात्र 1 लाख लेख हैं। ये लेख भी विश्वकोशीय गुणवत्ता की अपेक्षानुसार बेहद कमजोर हैं। अधिकांश लेख या तो अंग्रेजी विकिपीडिया के संबंधित लेखों का खराब अनुवाद हैं या फिर कहीं से कॉपी–पेस्ट की गई सामग्री से निर्मित, या आधे–अधूरे। इसकी सबसे बड़ी वजह हिंदी विकिपीडिया पर सक्रिय सदस्यों का अभाव है। चूंकि किसी भी सर्च इंजन पर कोई भी सामग्री ढूंढने के दौरान विकिपीडिया का लिंक सबसे पहले आता है, इसलिए हमें विकिपीडिया को लेकर गंभीर होना होगा।

विकिपीडिया पर बनाए जा रहे लेखों के संबंध में किसी भी प्रकार के संदेह, समस्या को शेष सदस्यों से साझा करने का प्लेटफॉर्म 'चौपाल' है। किसी मुद्दे पर सहमति न बनने की स्थिति में मतदान का तरीका अपनाया जाता है जिसमें सामान्यतः सक्रिय सदस्य ही हिस्सा ले पाते हैं (क्योंकि शेष सदस्यों को पता ही नहीं चल पाता मतदान का)। पिछले दिनों विकिपीडिया चौपाल पर देवनागरी अंकों के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय अंकों व आसान भाषा का प्रयोग को लेकर बडी लंबी बहस हुई जिसमें यह बात रखी गई कि चूंकि विकिपीडिया सूचनाओं का एक लोकतांत्रिक और लोकप्रिय माध्यम है इसलिए हिंदी विकीपीडिया पर आसान भाषा व भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप का प्रयोग होना चाहिए। यह दुखद

है कि लंबी बहस और मजबूत तर्कों के बावजूद इस मुद्दे पर सहमति नहीं बनाई जा सकी। इसकी वजह हिंदी विकीपीडिया पर भाषा की रुढ़ समझ रखने वाले संपादकों–प्रबंधकों का बहुमत व वर्चस्व है। उनका मानना है कि हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि खतरे में है इसलिए देवनागरी अंकों को बचाया जाना बहुत जरूरी है और हिंदी विकिपीडिया इसका एक अच्छा माध्यम हो सकता है।

हिंदी विकिपीडिया पर देवनागरी अंकों के स्थान पर भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप को लागू करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये गए – 1) हिंदी विकिपीडिया मुख्य रूप से हिंदी समझने वाले तमाम पाठकों के लिए है, न कि मात्र हिंदी में उच्च शिक्षित लोगों के लिए, और हिंदी में साक्षर लोगों में भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप को लगभग सभी लोग समझते हैं; 2) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार प्रचलित अंक वे रोमन नहीं, भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप है और राजभाषा के प्रावधानों के अनुसार अंकों के इसी रूप का उपयोग होना चाहिए; 3) भारत में हिंदी माध्यम के विद्यालयों में यही अंक प्रयोग में लाये जाते हैं। यानी ये हिंदी भाषी समुदाय के सहज विवेक का हिस्सा हैं; 4) हिंदी माध्यम की शिक्षा में पहली कक्षा से पीएच.डी. तक की पाठ्य पुस्तकों में इन्हीं अंकों का प्रयोग होता है; 5) हिंदी के छोटे से लेकर बडे प्रकाशकों की पुस्तकों और संदर्भ ग्रंथों में इन्हीं अंकों का प्रयोग होता है। ये विकि नीति है कि किसी भी बात की सत्यता जांचने के लिए संबंधित किताबों और संदर्भ ग्रंथों को प्रामाणिक माना जाता है; 6) हिंदी की साहित्यिक संस्थाओं – साहित्य अकादमी, प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ, जन संस्कृति मंच आदि में भी भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप प्रयुक्त होता है; 7) हिंदी के सबसे बडे समाचार पत्रों – दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर, हिंदुस्तान, नवभारत टाइम्स, जनसत्ता (साहित्य समाज में सम्मानित), राष्ट्रीय सहारा, राजस्थान पत्रिका, अमर उजाला आदि सभी में इन्हीं अंकों का प्रयोग होता है; 8) भारत सरकार के सरकारी दस्तावेजों में भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप का प्रयोग होता है। यह बात इसलिए महत्वपूर्ण है कि आम आदमी से सरकार तक केवल भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय अंकों का प्रचलन है; 9) सभी महत्वपूर्ण हिंदी वेबसाइटें – बीबीसी हिंदी, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, केन्द्रीय हिंदी संस्थावन, राजभाषा विभाग आदि भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप का प्रयोग करती हैं; 10) हिंदी की सभी बड़ी साहित्यिक, गैर–साहित्यिक (समाचार विश्लेषण, विचार विश्लेषण वाली) पत्रिकाओं में भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप प्रयुक्त होता है; 11) विश्वविद्यालयों के हिंदी प्रकाशनों में भी भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप का प्रयोग होता है; और 12) सभी जगह (अकादमिक और गैर–अकादमिक जगत में) भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप का प्रचलन है।

इतने मजबूत तर्कों के बावजूद देवनागरी अंकों के कट्टर समर्थक अपनी बात पर अड़े रहे जिसके फलस्वरूप हिंदी विकिपीडिया पर भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप को लागू नहीं किया जा सका। बहुमत कुतर्क को भी विजयी बना सकता है, यह बहस इसका उदाहरण है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि देवनागरी अंक दुर्बोध हैं और इसी वजह से लोग इनका प्रयोग करना लगभग बंद कर चुके हैं। भाषा के प्रति रूढ़ समझ रखने वालों ने हिंदी विकिपीडिया पर कब्जा कर लिया है, जहां असहमति के लिए कोई स्थान नहीं है। इनमें से अधिकांश लोग गैर–भाषाई व गैर–साहित्यिक क्षेत्रों के हैं, इसलिए वे भाषा की बदलती प्रकृति से न तो परिचित हैं और न ही उसे स्वीकार करने को तैयार हैं। यह बात हिंदी विकिपीडिया पर उपलब्ध लेखों के स्वरूप का जायजा लेकर भी पहचानी जा सकती है। हालांकि गलती भाषा व साहित्य के जानकार लोगों की है जिन्होंने हिंदी विकिपीडिया पर जाकर इन रूढ़ समझ वालों के वर्चस्व को चुनौती देकर विकिपीडिया को समृद्ध करने में कोई रुचि नहीं दिखाई है, फिर भी विकिपीडिया पर कब्जा किये हुए लोगों को भी कुछ बातें ध्यान में रखनी चाहिए। विकिपीडिया एक सुलभ ज्ञानस्रोत है, अपनी कोई जिद पूरी करने के आंदोलन का केन्द्र नहीं। विकिपीडिया किसी व्यक्ति या समूह की जागीर

भी नहीं है कि वह अपनी दमित इच्छाओं को वहां पूरा करे। इसके लिए वे स्वतंत्र पुस्तक लिख सकते हैं जिसमें मनचाहे अंकों का इस्तेमाल करें। अगर पुस्तक अनुकूल लगी तो पाठक उनके पास जायेंगे, नहीं तो नकार देंगे। विकिपीडिया एक लोकतांत्रिक विश्वकोश है जिसकी नीति में व्यक्तिगत विचारों के लिए कोई जगह नहीं है। यहां ज्ञान का वही रूप अपेक्षित है जो जनता के बीच प्रचलित हो। चूंकि जनता के बीच भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप प्रचलित है, इसलिए यहां भी उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

विकिपीडिया की विश्वसनीयता और सत्यता पर काफी विवाद होता रहा है। वेबसाइट पर आसानी तथा बर्बरता के साथ संपादन करने की क्षमता, लेखों में असमान गुणवत्ता इत्यादि की काफी आलोचना भी हुई है। फिर भी इसके मुक्त वितरण, निरंतर और काफी संख्या में बदलाव, विभिन्न क्षेत्रों और भाषाओं के समावेश ने इसे इंटरनेट पर विश्व का सबसे अधिक लोकप्रिय और पठनीय संदर्भ बना दिया है। इसलिए अंकों के स्वरूप का प्रश्न हो या अन्य कोई प्रश्न, हमें हिंदी विकीपीडिया को भी आसान बनाकर सर्वसुलभ और पठनीय बनाने में मदद करनी चाहिए। साथ ही हिंदी टाइपिंग जानने तमाम हिंदी प्रेमियों को अपने–अपने क्षेत्र से जुड़े पृष्ठों को समृद्ध करने में योगदान देना चाहिए जिससे कि ज्ञान के लोकतंत्रीकरण की इस प्रक्रिया को बल मिल सके।

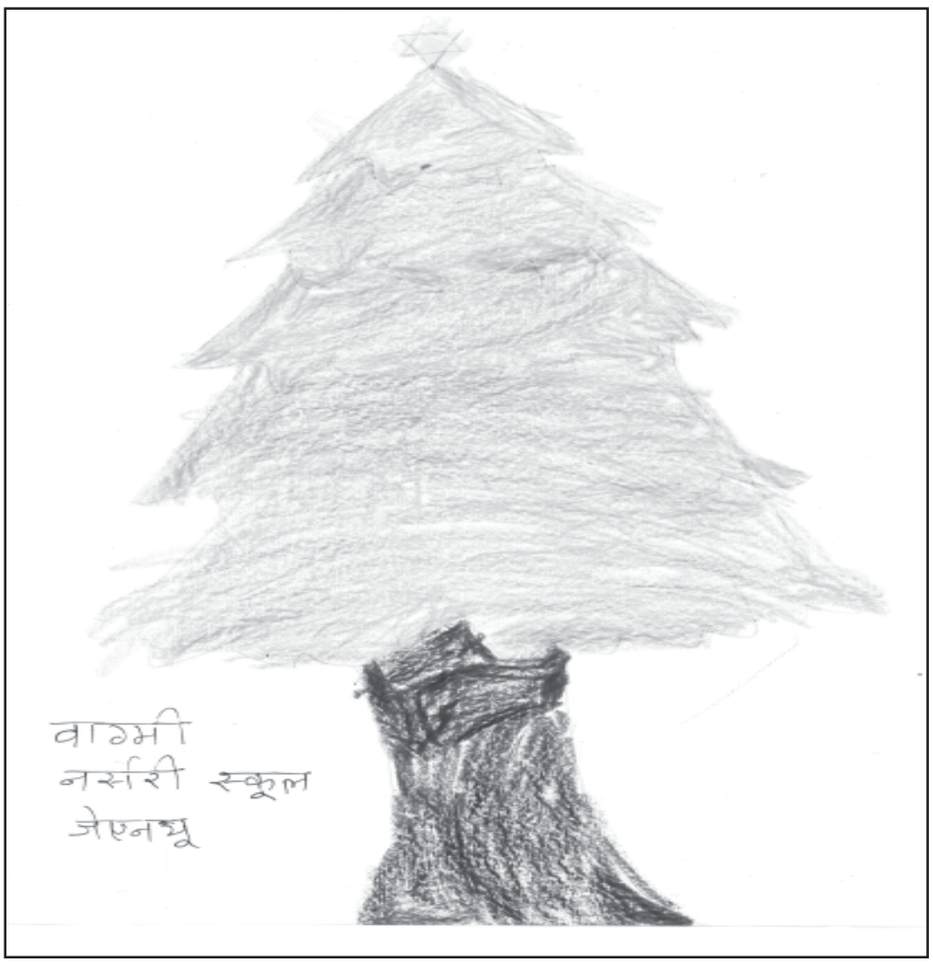

विश्वविद्यालय उच्चतम स्थान तक पहुँचे

यशवन्त सिंह

अकादमिक जगत में जेएनयू को लोग एक अलग तरह से याद करते हैं। यहाँ का वैचारिक माहौल और काम करने की शैली लोगों को आज भी प्रभावित करती है। यहाँ प्रस्तुत है, विश्वविद्यालय प्रशासन से जुड़े यशवन्त सिंह और जेएनयू के पुराने छात्र सुभाष शर्मा के संस्मरण।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय अन्य विश्वविद्यालयों और संस्थानों के लिए अनुकरणीय संस्थान है। जब इस विश्वविद्यालय का निर्माण किया गया था तब इसकी संरचना को लचीला बनाया गया था, ताकि देश के हर कोने से छात्र, शिक्षक एवं अधिकारी इसमें पठन–पाठन के लिए आ सकें। वहीं दूसरी इसकी प्रशासनिक इकाई में विद्यार्थियों, अध्यापकों और कर्मचारियों की भागीदारी को अधिक –से–अधिक महत्व दिया गया था, जिसके परिणामस्वरूप आज हम देखते हैं, कि कई विश्वविद्यालयी निर्णयों में इन सभी समुदायों की सलाह को ही प्राथमिकता मिलती है। यह इस विश्वविद्यालय के वातावरण की एक बड़ी उपलब्धि है। यह तथ्य विश्वविद्यालय की नींव को मज़बूती प्रदान करता है, जिससे समय–समय पर आने वाली समस्याओं और चुनौतियों का बातचीत के द्वारा हल निकालना सम्भव हुआ है।

मैंने अपने जीवन की शुरुआत एक जूनियर असिस्टेंट के रूप में की थी, लेकिन आज मैं जिस मुकाम पर हूँ, यहाँ पहुँचने के बाद, मेरा मानना है कि व्यक्ति को निरन्तर मेहनत और एकाग्र होकर अपना काम करना चाहिए। इसके लिए व्यक्ति में काम करने की इच्छा और कार्य के प्रति ईमानदारी का होना अति आवश्यक है, तभी जीवन में सफलता पाई जा सकती है। यदि व्यक्ति का इरादा नेक हो तो कितनी भी परेशानियाँ क्यों न हो, अंततः उसके प्रयत्नों से समस्त परेशानियाँ धूमिल या नगण्य हो जाती हैं। शिक्षा का उद्देश्य भी यही होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य जीवन निर्माण और व्यक्तित्व को ऊपर उठाना है। वह केवल जीवनयापन का माध्यम नहीं है। यह तथ्य आज की शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में और भी महत्वपूर्ण हो गया है। मैं अपने कार्य को बखूबी निभाने का प्रयास करता हूँ। मेरी हर सम्भव कोशिश संस्था के प्रति वफ़ादार रहने की है। मैं कभी किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अनुराग से ग्रसित नहीं रहा। मेरी हमेशा कोशिश यह रहती है कि मेरे बर्ताव एवं कार्य से किसी को अनावश्यक परेशानी न हो। आखिर हम सब इन्सान हैं, कभी–कभी जाने–अनजाने गलतियाँ भी हो जाती हैं, परन्तु आप भला तो जग भला। आपका कार्य ही आपकी वास्तविक पहचान है। आपको विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों के पठन–पाठन में एक सहायक की भूमिका निभानी होती है। यह बात अगर समझ में आ जाए, तो कोई समस्या ही नहीं है। इसके लिए बेहद ज़रूरी है कि आपके सम्बन्ध विद्यार्थियों और अधिकारियों के साथ मधुर हों। यदि कोई विद्यार्थी, अध्यापक और कर्मचारी अपनी समस्या के समाधान के लिए आपके पास आता है तो उसे न केवल पूरा समय दिया जाये, बल्कि उसकी समस्या का निदान किया जाये। अगर उसके कार्य में किसी तरह की अड़चन है तो उसे इसकी जानकारी तुरन्त दी जानी चाहिए। उसे एक ही समस्या के लिए बार–बार आने की दिक्कत न उठानी पड़े। इसका उत्तरदायित्व अधिकारियों पर है कि वे उसकी समस्या का समाधान तुरन्त करें।

जीवन में उन्नति करने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन का अत्यधिक महत्व है। मैं उन चुनिंदा

खुशकिस्मत लोगों में शामिल हूँ, जिन्हें इसका भरपूर अवसर मिला। मुझे विश्वविद्यालय में कार्य के दौरान हर विभाग में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। जहाँ भी गया वहाँ के विद्यार्थियों, अध्यापकों और कर्मचारियों का पूरा सहयोग ही नहीं मिला बल्कि उनका प्रोत्साहन और स्नेह भी मिला। इसी प्रोत्साहन की वजह से मुझे जीवन में निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली। मुझे जीवन के कई पथ पर जागरूक लोगों का साथ मिला, जिनसे मैंने समय का सही उपयोग करना सीखा जोकि सफलता के लिए नितांत आवश्यक है, क्योंकि बीता समय बाद में लौट कर नहीं आता। यह केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं, अपितु संस्था के लिए भी ज़रूरी है। मुझे ऐसे लोगों के साथ काम करने का अवसर मिला जो केवल विश्वविद्यालय के विकास के लिए पूर्णतः समर्पित थे। उन्होंने अपने बारे में एक बार भी नहीं सोचा, उन लोगों के प्रति मेरा सदैव आभार रहेगा। उनसे मैंने चुपचाप एवं तटस्थ भाव से अपना काम करना सीखा। यहाँ के आंदोलनों से भी बहुत कुछ सीखा और उनसे प्रभावित होकर स्वंय के लिए मापदंड निर्धारित किये। जैसे आज का काम कल पर नहीं छोड़ना है, आसान कुछ भी नहीं होता है, सफलता तभी मिलती है जब आप परिश्रम करते हैं।

उच्चस्तरीय शैक्षणिक संस्थान होने के नाते यहाँ का माहौल अन्य विश्वविद्यालयों से एकदम अलग है। मैं समझता हूँ कि यहाँ का वातावरण न केवल पढ़ने वाले छात्रों के लिए लाभदायक रहा है अपितु यहाँ के कर्मचारियों और उनके बच्चों के लिए भी लाभदायक और प्रेरणादायक सिद्ध हुआ है। यहाँ पर होने वाली सभाओं, गोष्ठियों, चर्चाओं और विचारों से केवल छात्र वर्ग ही प्रभावित नहीं होते है, अपितु यहाँ के कर्मचारी और उनके बच्चे भी प्रभावित होते हैं। यहाँ चर्चाएं मुक्त होती हैं। कोई भी व्यक्ति इन सभाओं और चर्चाओं में शामिल हो सकता है। मैंने भी ऐसी कई गोष्ठियों और चर्चाओं में भाग लिया है। हमारा स्कूल ऑफ इन्टरनेशनल स्ट्टीज़ हर साल पंडित हृदयनाथ कुंजरू व्याख्यान माला का आयोजन करता है। एक बार यह व्याख्यान माला फिरोजशाह रोड पर सिटी सेन्टर में हुई थी, जिसमें मैंने भी भाग लिया था, जिसका मुझे प्रमाणपत्र भी मिला था। यह मैंने केवल दुनिया की जानकारी एवं देशों के बीच किस तरह से सम्बन्ध बनते और बिगड़ते हैं, उसे समझने के लिए किया था। यहाँ कार्य करने का ऐसा माहौल बनता है जिसमें कर्मचारियों को केवल काम के बारे में ही नहीं; बल्कि देश–विदेश और अन्य क्षेत्रों में होने वाली घटनाओं की जानकारी भी मिलती है। प्रतिक्रियास्वरूप समाज पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानने का मौका भी मिलता है जिसके परिणामस्वरूप निम्न श्रेणी वर्ग के कर्मचारियों ने अपने–अपने कार्य क्षेत्रों में सफलता अर्जित की है। इसके कई उदाहरण विश्वविद्यालय में मौजूद हैं। यहाँ के कर्मचारियों के बच्चों को केन्द्रीय विद्यालय में पढ़ने की सुविधा प्राप्त होती है जिसने उनके चरित्र और व्यक्तित्व के विकास में अहम भूमिका का निर्वाह किया है। उन्हें उत्तम रोजगार और व्यवसाय के अवसर मुहैया कराये हैं। आज ये बच्चे अपने–अपने रोजगार से जुड़े हैं जिसमें जेएनयू परिसर की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।

मुझे करीब तीन–चार कुलपतियों और रेक्टर्स के साथ 15–20 साल काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। प्रत्येक कुलपति के कार्य करने का तरीका अलग था। वे सभी विश्वविद्यालय को उच्चतम स्थान तक ले जाना चाहते थे। उन्होंने इसके लिए अथक प्रयत्न भी किये। वर्तमान समय में हम देखते हैं कि पिछले दशकों में विश्वविद्यालय ने हर क्षेत्र में उन्नति की है। परिणामस्वरूप विश्वविद्यालय ने विश्व पटल पर एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। मेरा सौभाग्य है कि मुझे यहाँ दोबारा कार्य करने का अवसर प्रदान किया गया है। अतः मेरी यह कोशिश होगी कि मैं कुलपति महोदय एवं विश्वविद्यालय समुदाय की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य कर सकूँ। मेरा यह अथक प्रयास रहता है कि जो भी फाइल या अन्य पेपर कुलपति महोदय के समक्ष रखे जाते हैं, उनमें नियमों के साथ–साथ अन्य पूरे विवरण हों ताकि उन्हें निर्णय लेने में कठिनाई न हो। मेरा कार्य सम्पूर्ण जानकारी और तथ्यों को कुलपति के समक्ष प्रस्तुत

करना है। उनका निर्णय ही अंतिम निर्णय होता है।

आज विश्वविद्यालय को स्थापित हुए चार दशक से अधिक समय हो चुका है। शुरू के दस–पन्द्रह सालों में जिनकी नियुक्तियाँ हुई थीं वे आज लगभग सभी सेवानिवृत्त हो गये है या निकट भविष्य में निवृत्त हो जाएँगे। ऐसे में, विश्वविद्यालय को बौद्धिक और जागरूक विद्वतजनों की आवश्यकता है जो यहाँ शिक्षा और शोधकार्य को नये आयाम प्रदान कर सकें। इस दिशा में लगातार कार्य प्रगति पर है। इसके अलावा एम.फिल. और पीएच.डी. की डिग्री और प्रमाण पत्र अवार्ड करने में अतिरिक्त समय लग जाता है जिसकी वजह से विद्यार्थियों का समय नष्ट होता है। इस विलम्ब को रोकने के लिए विश्वविद्यालय के कर्मचारियों को नवीन आधुनिक तकनीक का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि विश्वविद्यालय में पदार्पण से लेकर वर्तमान समय तक ये कर्मचारी विश्वविद्यालय के विकास में अपना भरपूर योगदान दे सकें। इनकी मेहनत और ऊर्जा का सकारात्मक प्रयोग हो सके। वहीं दूसरी ओर उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में ज़्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि कुलपति और बौद्धिक शिक्षाविद् इस विषय पर ज़्यादा जानते हैं। पिछले चालीस सालों से विश्वविद्यालय से जुड़ा होने के कारण मेरी राय यह है कि शिक्षा और शोध कार्य में सामंजस्य हो लेकिन वर्तमान समय में इसका अभाव सा नज़र आता है। इस अभाव को न्यूनतम करने की आवश्यकता है। शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगार प्राप्त करना न होकर समाज और राष्ट्र के प्रति जिम्मेदार नागरिक बनाने का होना चाहिए। वैसे विश्वविद्यालय में कुछ शिक्षाविद्ों के प्रयास से इसकी गूँज सुनायी पड़ती है लेकिन इसे विकसित किया जाना अभी बाकी है। इस कार्य में हमें अधिकाधिक सफलता मिले, हम यही कामना करते हैं। पिछले एक–दो सालों में नवरत्न विश्वविद्यालय स्थापित करने के विषय में बहुत चर्चा हुई। आखिर नवरत्न विश्वविद्यालय क्या है ? मेरी समझ से वह विश्वविद्यालय जहाँ गुणवत्ता के लिहाज से शिक्षा एवं शोध के नवीन आधुनिक सुविधा उपलब्ध हो और वहाँ सुविधानुसार कार्य भी हो। यह सुविधाएँ लगभग हर विश्वविद्यालय में होनी चाहिए। इसके अभाव में विश्व के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय की श्रेणी में पहुँचना सम्भव नहीं होगा।

वर्तमान कुलपति महोदय ने करीब दो साल पहले ही पदभार सम्भाला है। वे विश्वविद्यालय को एक प्रतिष्ठित मुकाम तक ले जाना चाहते हैं और उन्होंने इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण कदम भी उठाये हैं। व्यक्तिगत तौर पर मेरा मानना है कि किसी भी मसले पर आप जितने लोगों से सम्पर्क करेगें, आपके सामने उतनी ही टिप्पणी और विचार होगें। इसके बाद आप उन विचारों के आधार पर अपने कार्य को दिशा दे सकते हैं। यह सफलता का मूल मंत्र हो सकता है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में यह दृष्टिकोण कूट–कूट कर भरा है। उम्मीद केवल सामूहिक जिम्मेदारी की है। इसके बल पर ही विश्वविद्यालय आज की चुनौतियों का मुकाबला करते हुए आगे बढ़ रहा है। इसके लिए कड़ी मेहनत के अलावा कोई और विकल्प है, नहीं।

वर्तमान कुलपति महोदय के कार्यालय में हिंदी की पत्र–पत्रिकायें आती हैं। उनके कार्यालय में हिंदी में आने वाली चिट्ठियों के जवाब हिंदी में ही दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कार्यालय में हिंदी में होने वाली कार्यवाही का ब्यौरा रखा जाता है। उसके लिए अलग से फाईल्स और रजिस्टर बनाये गये हैं। प्रत्येक तीन महीने पर उन कार्यों की रिर्पोट प्रशासनिक इकाई को भेजी जाती है। कुलपति महोदय बक़ायदा ऐसे पत्रों एवं फाईल्स में स्वंय हिंदी में टिप्पणी लिखते हैं। जहाँ तक हिंदी में कार्य करने का सवाल है तो हमारी कोशिश यही रहती है कि दोनों भाषाओं में ही कार्य हो। इस बात को तवज्ज़ो दी जाती है कि सामने वाला व्यक्ति किस भाषा में आपकी बात को समझता है। भाषा को कोई मुद्दा न समझकर केवल अभिव्यक्ति को ही प्रमुखता दी जाती है।

प्रस्तुति : **सुनीता**

जेएनयू : एक बौद्धिक परिवार

सुभाष शर्मा

सुभाष शर्मा जेएनयू के छात्र रहे हैं। उनकी कहानी और अन्य गंभीर विषयों पर कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा से जुड़े हुए है।

जब 1979 में मैंने जेएनयू में एम.ए. (समाजशास्त्र) में प्रवेश लिया, तो मुझे काफी संतुष्टि मिली क्योंकि जेएनयू की छवि एक अति आधुनिक विश्वविद्यालय के रूप में रही है। मैंने छात्र–छात्राओं को बेहिचक संवाद करते पाया। ढाबों पर देर रात चाय की चुस्कियाँ लेते विद्यार्थीगण अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों पर चर्चा करते – कभी अमरीका, तो कभी रूस; कभी फिलिस्तीन, तो कभी अफ्रीकी देश, कभी निकारागुआ, तो कभी चीन। मजेदार बाद यह भी रही कि कक्षा में हाजिरी नहीं ली जाती जैसा कि पारम्परिक विश्वविद्यालयों में सामान्यतः होता है। कुछ विद्यार्थी कक्षाओं में मौजूद होते हैं, तो दूसरे पुस्तकालय में पढ़ने में तल्लीन होते हैं। तीसरी तरह के विद्यार्थी परिसर के बाहर किसी बौद्धिक कार्य या संगठन के कार्य में व्यस्त रहते हैं। यहीं मैंने विचारधारा पर आधारित राजनीति का ककहरा सीखा। यह अन्य विश्वविद्यालयों से बिल्कुल भिन्न था जहाँ प्रायः जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा और क्षेत्र राजनीति में – विशेषकर छात्र राजनीति और शिक्षक राजनीति में – हावी रहते हैं। जेएनयू में 1970 और 1980 के दशकों में प्रगतिशील विचारधारा, विशेषकर वामपंथ, केंद्र में थी। 2010 और 2011 में जेएनयू में क्रमशः पूर्ववर्ती छात्र संघ के वार्षिक समारोह तथा कहानी पाठ में मुझे भाग लेने का अवसर मिला, दोनों बार मैं निराश हुआ क्योंकि विचारधारा की जगह जातिगत पूर्वाग्रह ने ले लिया था। 'दृष्टियों का जनतन्त्र' सही मायने में कमजोर हो रहा है जबकि जेएनयू की विरासत प्रगतिवादी सोच और समझ, नीति और नीयत रही है। ऐसा लगता है कि पहले जैसी खुली बयार नहीं बह रही है; शंका की दीवारें मोटी हो रही हैं और आलोचनात्मक साझापन विलुप्त हो गया है।

जेएनयू में शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच परस्पर विमर्श और संवाद कक्षा, परिसर तथा शिक्षकों के आवासों पर भी खुले मन से होता रहा है। मेरा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्नातक डिग्री की पढ़ाई के दौरान का अनुभव था कि शिक्षक विद्यार्थियों से दूरी बनाये रखते थे (और अब भी ऐसा ही है); शिक्षक को ज्ञान का पुंज एवं दाता माना जाता था और विद्यार्थी को याचक एवं भिक्षुक; शिक्षक को उच्चतर तथा विद्यार्थी को निम्नतर माना जाता था; शिक्षक आशीर्वाद देने (या न देने) के लिए अपनी मनोवस्था तैयार रखता था और विद्यार्थी आशीर्वाद पाने के लिए व्याकुल रहता था – चरण–स्पर्श संस्कृति मानती थी कि ज्ञान का कायान्तरण चरण–कमल छूने से ही सम्भव है; छात्रावास के विद्यार्थी बाहर किराये के कमरे लेकर रहने वाले विद्यार्थियों को कमतर एवं हीनतर समझते थे; ए.एन. झा छात्रावास के विद्यार्थी पी.सी. बनर्जी, गंगानाथ झा, डायमंड जुबिली और सर सुन्दर लाल छात्रावास के विद्यार्थियों को दोयम दर्जे का मानते थे, तथा इन चार छात्रावासों के विद्यार्थी हिन्दू छात्रावास, ईश्वर शरण आश्रम छायावास, के.पी.यू.सी. छात्रावास आदि के विद्यार्थियों को तीसरे दर्जे का मानते थे। इस प्रकार स्तरण के कई रूप सुस्पष्ट थे और प्रत्येक छात्र किसी न किसी खाने या श्रेणी में फिट किया जाता था। इसी प्रकार विज्ञान संकाय के विद्यार्थी, वाणिज्य संकाय के विद्यार्थी को कमतर मानते थे और वाणिज्य पढ़ने वाले कला संकाय के विद्यार्थियों को आखिरी पायदान पर मानते थे। मगर जेएनयू में ऐसा कोई स्तरण नहीं था और न अभी है। कुल मिलाकर समावेशी एवं अन्तरनिर्भरता का माहौल था। प्रवेश के समय से लेकर परीक्षा तक जेएनयू के वरिष्ठ छात्र–छात्रा अपने कनिष्ठ साथियों को सहयोग देते थे। वे सीनियर–जूनियर में नहीं बँटे थे जबकि इलाहाबाद में अपने सीनियर को 'सर' कहने की सड़ी–गली परम्परा थी।

इतना ही नहीं, इलाहाबाद में प्रायः अधिकतर शिक्षक नोट लिखवाते थे परीक्षा के लिए। यानी परीक्षोन्मुखी पढ़ाई होती थी। बाजार में छपे नोट्स भी बिकते थे। एक

प्रश्नपत्र के लिए एक या दो किताब शिक्षक बता देते थे। फिर विद्यार्थी रट्टा मारने और घोंटकर पी जाने की कोशिश करते थे। जेएनयू में रटने का सवाल ही नहीं था। एक प्रश्नपत्र के लिए दर्जनभर किताबें, लेख, पत्रिकाएं आदि सन्दर्भ–ग्रन्थ के रूप में बतायी जाती थीं और विद्यार्थी से अपेक्षा की जाती थी कि वह विषय को समझे, आलोचनात्मक व्याख्यान करे और अनुकरणात्मक की बजाय स्वतन्त्र आलोचनात्मक ज्ञान हासिल करे। विद्यार्थी प्रपत्र (टर्म पेपर) लिखता था और उस पर मिले प्राप्तांक परीक्षाफल के अंकों में जोड़े जाते थे। फिर किताबों की समीक्षा भी लिखवायी जाती थी जिससे हम विद्यार्थी किसी पुस्तक की कमी–बेशी जान सकें। जेएनयू में नचिकेता की विशद् परम्परा में चुनौतीपूर्ण सवाल शिक्षकों से किये जाते हैं जबकि इलाहाबाद जैसे पारम्परिक विश्वविद्यालयों में ऐसी चुनौती खड़ी करना उचित नहीं माना जाता बल्कि एक प्रकार की उच्छृंखलता जानी जाती है। अस्तु, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मैंने किताबी ज्ञान ज्यादा सीखा जबकि जेएनयू में आलोचनात्मक ज्ञान सीखा – किताबों से काफी आगे।

फिर जेएनयू में सांस्कृतिक कार्यक्रम लगभग निरन्तर होते रहते थे जिससे मनोरंजन के अलावा ज्ञान–वृद्धि भी होती थी। अंग्रेजी और हिन्दी माध्यमों में क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर के नाटक, संगीत आदि का लुत्फ हम लोग उठाते थे। इससे विद्यार्थियों में सर्जनात्मक शक्ति विकसित होती थी। यह महज संयोग नहीं था कि कई विद्यार्थियों की रचनाएं (कविताएं, कहानियाँ, लेख, समीक्षाएं) विभिन्न प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। विभिन्न राष्ट्रीय स्तर के साहित्यकारों, वैज्ञानिकों और समाज वैज्ञानिकों के व्याख्यान आये दिन हुआ करते थे। इस प्रकार ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदानात्मक ज्ञान के लिए उपयुक्त माहौल मौजूद था। मैंने परिसर में जवाब देने की बजाय सवाल रखना ज्यादा गहनता से सीखा। समाजशास्त्र में मेरे वरिष्ठ विद्यार्थीगण यथा डी. रघुनन्दन, मैत्रेयी चौधरी, निर्मला जॉर्ज, मनोज श्रीवास्तव आदि से प्रेरणा मिलती थी। दूसरे केंद्रों के विद्यार्थी यथा चमनलाल, सुरेश शर्मा, पुरुषोत्तम अग्रवाल, हरप्रकाश गौड़, वीणा शर्मा, असद जैदी, राजेन्द्र शर्मा, अजय पटनायक, ईश मिश्र, अनिल चौधरी, उर्मिलेश, शशिभूषण उपाध्याय, विल्सन, हितेश चन्द्र अवस्थी, महिपाल सिंह आदि से बराबर अन्तः क्रिया स्थापित होती थी। अनौपचारिक रूप से होने वाले विमर्श कक्षा में सम्पन्न विमर्शों से किसी भी मायने में कमतर नहीं थे। अर्थात् 'सहपाठी सीख' उम्दा स्तर की थी। कोई भी विद्यार्थी किसी भी केंद्र के किसी भी पाठ्यक्रम को वैकल्पिक प्रश्नपत्र के रूप में चुन सकता था और किसी भी कक्षा में भाग ले सकता था। इस खुलेपन ने अन्तर–अनुशासनिक ज्ञान को बढ़ावा दिया जिससे कूपमंडूकता और संकीर्ण वैचारिकता पर रोक लग सकी।

इतना ही नहीं, छात्र संघ का चुनाव जेएनयू में विचारधारा और नीतिगत मुद्दों पर लड़ा जाता रहा है और बिना ज्यादा खर्च के शालीनतापूर्वक हस्तलिखित पोस्टरों से प्रचार–प्रसार किया जाता रहा है। रात में मेस में प्रचार–प्रसार के आयोजन वैचारिक ऊर्जा प्रदान करते रहे हैं। डी.पी.टी. (जो अब सांसद हैं) को सुनने की उत्कट इच्छा सभी विद्यार्थियों में रहती थी। रातभर विचार विमर्श करने की परम्परा जेएनयू की हमेशा याद दिलाती है।

जेएनयू में कम से कम आधी फैकल्टी अन्तरराष्ट्रीय स्तर की थी – प्रो. योगेन्द्र सिंह, प्रो. टी.के. ओमन, प्रो. आर. के. जैन, प्रो. नामवर सिंह, प्रो. मैनेजर पाण्डेय, प्रो. केदारनाथ सिंह, प्रो. ए.के. दामोदरन, प्रो. सी.पी. भाम्बरी, प्रो. प्रभात पटनायक, प्रो. उत्सा पटनायक, प्रो. कृष्णा भारद्वाज, प्रो. विपन चन्द्रा, प्रो. एस. गोपाल, प्रो. हरबंस मुखिया, प्रो. रोमिला थापर, प्रो. दीपांकर गुप्ता, प्रो. अमित भादुड़ी, प्रो. सुदीप्त कविराज, प्रो. अमिताभ कुंडू, प्रो. भल्ला आदि। मगर इनमें से अधिकतर प्रोफेसर सेवानिवृत्त हो चुके हैं अथवा जेएनयू छोड़कर अन्यत्र चले गये हैं। कुछ नये अच्छे प्रोफेसर आये हैं मगर मध्यमस्तर वालों की संख्या ज्यादा है। इसलिए जरूरत है स्तर ऊँचा करने की क्योंकि विश्व के दो सौ उत्तम विश्वविद्यालयों में जेएनयू का नाम नहीं है। जेएनयू ने मुझे ही नहीं, हजारों लोगों को नया जीवन दिया है, नया सोचने और कुछ करने का जज्बा दिया है। हम जहाँ भी हैं, जो भी करते हैं, उसमें जेएनयू की प्रतिबद्धता की सीख, आम आदमी के साथ खड़ा होने की सीख हमें संवेदनशील और सृजनशील बनाये रखती है।

हिन्दुस्तानी को मूर्त रूप देने के लिए हिन्दी और उर्दू को उसकी पोषक भाषायें समझना चाहिये।
– महात्मा गांधी

चमक–दमक भरे इस बाजारू समय का क्रिटीक है गंगा ढाबा

संदीप सिंह

संदीप सिंह जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय छात्र संघ के अध्यक्ष रह चुके है। फिलहाल छात्र राजनीति में सक्रिय हैं।

जेएनयू से कम नाम जेएनयू के गंगा ढाबा का नहीं है। जब हम लोग इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंडर ग्रैजुएशन के छात्र थे तभी से दिल्ली गए सीनियर्स से जेएनयू के किसी गंगा ढाबा का नाम सुना करते थे जो 'सुबह चार बजे तक खुला रहता था और जहाँ लोग चाय के कप के साथ खूब गर्मागर्म बहसें किया करते हैं'। इलाहाबाद जैसे शहर में हॉस्टल में रहते हुए, जहाँ देर रात गए चाय पीने के लिए हमें प्रयाग रेलवे स्टेशन जाना पड़ता था, हमारे मन में गंगा ढाबा की एक बड़ी ही रोमांटिक छवि उभरती थी।

जेएनयू में एडमिशन वाली भागदौड़ के बाद हम तीन–चार इलाहाबादी दोस्त जो उस साल अलग–अलग विषयों में वहां दाखिल हुए थे, बाकायदा तैयार होकर 'गंगा ढाबा देखने' निकले थे। संभवतः हम चारों के लिए ढाबे का पहला दर्शन दृश्यभंग जैसा था। हमारी कल्पना में जो एक व्यवस्थित, रोशनी से भरपूर और अब तक हमारे देखे–जाने वाले ढाबा–कैंटीनों की तस्वीर थी, टूट गयी। अजीब झाड़–झंखाड़ से भरी हुई एक उबड़–खाबड़ जगह, जहाँ चलने में आपके पैरों को आँखें रखनी पड़ती हैं। बैठने के लिए कुर्सियां न मेजें बल्कि टेड़े–मेड़े पत्थर। ऊपर खुला आकाश और बबूल की लगातार गिरती रहने वाली पत्तियों की कांटेदार शाखाएं, जिनसे कब आपकी चाय में चींटा गिर पड़ेगा इसका ख्याल हमेशा रखना पड़ता है।

इस शुरुआती झटके के बाद थोडा गौर करने पर हमने पाया कि थोड़ी–थोड़ी दूरी पर बने स्टूलनुमा पत्थरों पर बैठे लोग अँधेरे और रोशनी के बीच वाली स्थिति में सच में कुछ बतियाये जा रहे थे। दूसरा झटका हमें ढाबे के काउंटर पर लगा। न नॉनवेज, न वेज! सिर्फ चाय, शुरू में एकदम अच्छा न लगने वाला पराठा, आलू के एकाध तैरते टुकड़े के साथ पानी से पतली आलू–मटर की सब्जी और आमलेट जैसी एक दो चीजें, और बस ! समझ में नहीं आया कि आखिर ढाबा इतना फेमस क्यों है ?

कैम्पस में थोडा व्यवस्थित होने के बाद जब पूरी लाइब्रेरी पढ़ जाने का जोश अपने उफान पर था, रात के 11.30 पर लाइब्रेरी बंद होने के बाद गंगा ढाबा जाकर घंटा डेढ़ घंटा बैठना हमारी आदतों में कब शामिल हुआ, ये मैं कभी ठीक से जान नहीं पाया। धीरे–धीरे उस 'अँधेरे–उजाले' में बिखरे हुए उबड़–खाबड़पन के भीतर से बनने वाले 'स्पेस' का अहसास होने लगा था। यह 'स्पेस' जेएनयू की खासियत है। गंगा ढाबा के 'स्पेस' का एबनार्मल या अनप्लांड स्ट्रक्चर उसकी विशेषता है। इसका अंदाजा आप इस बात से लगा सकते हैं कि किसी भी किस्म की कितनी भी प्राइवेट बात जितने निश्चिन्त तरीके से आप गंगा ढाबा पर कर सकते हैं उतनी निश्चिंतता से संभवतः जेएनयू के किसी और पब्लिक स्पेस में नहीं, लाइब्रेरी कैंटीन और आजकल के 24X7 ढाबा पर तो बिलकुल ही नहीं। पार्थसारथी चट्टानों के बाद जेएनयू में सबसे ज्यादा प्रेम प्रस्ताव संभवतः गंगा ढाबा के ही स्टूलनुमा पत्थरों के बीच उपस्थित

अँधेरे–उजाले में स्वीकारे या ठुकराए जाते हैं, ऐसा मैं सिर्फ दूसरों के अनुभव से नहीं कह रहा हूँ। गंगा ढाबा की यह संरचना उसके 'स्पेस' को एक खास किस्म की 'वैयक्तिक्ता/पहचान' देती है जिसमें आप बहुत सहज महसूस करते हैं। अगर आप गौर से देखें तो पायेंगे के ढाबे की इस व्याप्ति के किसी कोने में बैठा एक लड़का या लडकी सबकी नजरों में आये बगैर सबको या किसी एक को ताके जा रहा है।

खैर, इसी ढाबे से हमने छात्र संगठनों के नेताओं कार्यकर्ताओं को 'आइडेंटीफाई' करना शुरू किया। 2004 के उस जमाने में मौर्याजी की दुकान के बगल में देर रात तक लगने वाला आइसा के लोगों का अड्डा काफी विजिबल हुआ करता था। एसएफआई के लोग वहां कम दिखते थे, उनका मुख्य अड्डा उस समय छात्रसंघ का ऑफिस ही हुआ करता था जिसको हम लोग अक्सर बाहर से झाँककर लौट आया करते थे। ऐसे ही किसी एक दिन जब मैं अपने कुछ मित्रों के साथ देर रात गंगा ढाबा पर बैठा हुआ था, हमें आइसा के किसी कार्यकर्ता ने अगले दिन दिखाई जा रही फिल्म 'एक मिनट का मौन' की पर्ची दी जिसमें उस क्रांतिकारी छात्र नेता के जीवन और संघर्ष को देखने के बाद रवि यादव और क्लास के 'बाबा' अमरेन्द्र त्रिपाठी के साथ मैं काफी खराब मनःस्थिति में चला गया था।

उस समय हम अभिषेक सर जो हाल ही में फुलब्राईट स्कॉलरशिप पूरी कर लौटे थे और आजकल कोलंबिया विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं, की शागिर्दगी में उनके शब्दों में 'गंगा ढाबा' करते थे। उनके हिसाब से 'गंगा ढाबा करना' सही में जेएनयूआइट होना है। यह भी सच है कि सबसे पहले ठीक–ठीक से ऋत्विक घटक, सबाल्टर्न स्टडीज, रणधीर सिंह, फ्रेंचेस्का के पब्लिक स्फेयर, पॉल ब्रास, पॉल रिकर, फूको और हैबरमास के बारे में वहीं और उन्हीं से सुना।

बाद में छात्र राजनीति की सक्रियता के दौर में जब अक्सर हमारा मेस का खाना छूट जाया करता था या देर रात कैम्पेन खत्म होती थी, हमारी भूख वही ढाबा वाला पराठा ही मिटाता था जिससे हमारी शिकायतें कभी खत्म नहीं हुईं। जुलूस खत्म हुआ है और रात के 1 बज चुके है, 10–15 रूपये में अगर पेट भरना है तो चलो गंगा ढाबा। संगठन की कमेटी की बैठक देर रात खत्म हुई है, अगले दिन की प्लानिंग का तनाव साफ दिख रहा है, भूख लगी है, चलो गंगा ढाबा। युनियन की काउंसिल की तल्ख बैठक खत्म हुई है, मूड ऑफ है, चाय पीनी है, चलो गंगा ढाबा। मालूम है कोई दोस्त अथवा कामरेड या अच्छा लगने वाला मिल ही जायेगा जिसको देखकर आप खुश हो जाते हैं. आप अकेले हैं, मन नहीं लग रहा है, चलो गंगा ढाबा।

जेएनयू का अघोषित पॉलिटिकल सेंटर है गंगा ढाबा। सब कुछ वहीं से शुरू होता है, जुलूस भी और चुनावी अफवाह भी। आजकल के नए ढाबे/कैंटीन अपनी संरचना में काफी सीमित और संकुचित हैं जिन पर इस बाजारू समय का असर साफ दिखता है, और दिखता है कि कैसे इस 'समय' में दीक्षित होने वाले हमारे नौजवान गंगा ढाबा की अहमियत को शायद कम समझ रहे हैं। बावजूद इसके गंगा ढाबा इस 'समय' के दबाव में नहीं आता है, अपनी पहचान के साथ खड़ा रहता है, सर नहीं झुकाता। चमक–दमक भरे इस बाजारू समय का एक तरह से क्रिटीक है गंगा ढाबा।

जेएनयू में गंगा ढाबा का होना आश्वस्तिदायक है। वो कहता है कि तुम आओ, मैं हूँ और वहीं मिलूंगा। बना रहे, बचा रहे गंगा ढाबा।

हमारी राष्ट्रभाषा में वे सब प्रकार के शब्द आने चाहिये, जो जनता में प्रचलित हो गये हैं। हर व्यापक भाषा में यह शक्ति रहती ही है। इसीलिए तो वह व्यापक बनती है।

– महात्मा गांधी

समीक्षा

सपनों की एक दुनिया

संदीप जायसवाल

संदीप जायसवाल भारतीय भाषा केन्द्र में शोधछात्र हैं। यहाँ प्रस्तुत हैं, जेएनयू पर आधारित उपन्यास 'कशमकश' की समीक्षा।

जनाब वसीयुलहक का उपन्यास 'कशमकश' हुस्न और इश्क के सराबों का एक ऐसा मंजर पेश करता है कि पढ़ने वाला उसी दुनिया में खोकर रह जाता है। अपने जीवन के तनावों, संघर्षों से थका–हारा पाठक इस उपन्यास को पढ़कर हैरान हो यह सोचने लगता है कि क्या सचमुच इस दुनिया में ऐसी कोई जगह है जहां सिर्फ बहार ही बहार है, जिसे गम की परछाई छू तक नहीं पाती। वसी साहब ने एक ऐसी ही दुनिया अपने उपन्यास में पेश की है। यह दुनिया है जेएनयू की। एक बेहद जिंदादिल, शोख और रंगीनी से भरी हुई दुनिया। जहां हिंसा, भेदभाव, अशांति के लिए कोई जगह नहीं।

अरावली की खूबसूरत पहाड़ियों में बसे जेएनयू की फजा में सांस लेते नौजवान छात्रों के दिलों में उठनेवाली लहरों को अपने खूबसूरत लफ्ज़ों में उतारा है लेखक ने। इस कहानी में किरदार तो कई सारे हैं – पिंकी, अदा, शक्ति, मदन, तूफ़ानी वगैरा। पर असल किरदार महबूब और आईना हैं जिनके मुहब्बत के अफसाने को लेखक ने बड़ी नज़ाकत और आहिस्तगी के साथ पेश किया है।

महबूब और आईना की निगाहें जेएनयू में उठते–बैठते चार होती हैं। वे एक दूसरे के लिए खिंचाव महसूस करते हैं पर नहीं जान पाते यह खिंचाव, बेकरारी क्या है ? मुहब्बत या और कुछ ? वे एक दूसरे को लेकर कशमकश की हालत में हैं। उनके हालात ही ऐसे हो जाते हैं कि वे अपनी चाहत का इजहार नहीं कर पाते। वे यह नहीं समझ पाते दिल की बात जुबां पर कैसे लायें। कशमकश की यह हालत उनकी राहें जुदा करा देती हैं पर आखिर में लब फरियाद कर ही देते हैं। वे एक दूजे के हो जाते हैं। वस्ल की रात आती है और उनकी मुहब्बत को मुकाम मिलता है।

महबूब और आईना की यह मुहब्बत जिस दुनिया में जन्म लेती है वह वाकई बड़ी सपनीली है। इस सपनीली दुनिया में अब्र–आलूद सुब्हें हैं तो शबनम में भींगी हुई शामें हैं। लगता हैं कांच का बंद कोई गोला है जिसे बाहर की धूप–ताप छू तक नहीं पाती। इसे पढ़ते हुए जायसी के पद्मावत की याद हो आती है। पद्मावत में तसव्वुर का एक सिंहललोक है जहां बारहोमास अमराई फरी रहती है। वह एक जगमगाती हुई दुनिया है जिसमें सब कुछ शाश्वत है। हर वक्त हरियाली और सावन है। कजा और गम का नामो–निशां तक नहीं। कुछ वैसी ही, बल्कि कहूं उससे एक कदम आगे ही यह जेएनयू की दुनिया है जिसे वसी साहब ने इश्क में सराया डूबा हुआ दिखाया है यह वह दुनिया है जिसमें शमा है, गुल है, परवाना है। हुस्न और शबाब है। यहां नूर का दरिया बहता है जिसमें दोशिजाएँ किलकारियां मारती हैं। आशिकों की जान इन तितलियों पर फिदा है। एक बानगी देखिए–

"घड़ी पांच बजा रही थी। चायनोशी का दौर शुरू हो चुका था। तितलियां इधर–उधर थिरकने लगी थीं। भंवरे भी झुंड में रंग–बिरंगे फूलों के इर्द–गिर्द मंडराने लगे थे।''

इस उपन्यास के सारे किरदारों पर इश्क का एक बुख़ार–सा चढ़ा रहता है। वे सब तसव्वुरे इश्क में जीते हैं। यहां न माज़ी की गमगीन परछाइयां हैं

न मुस्तकबिल की चिंता। बस वे अपने आज में जीते हैं। मस्त, बिंदास और बेफिक्र जिंदगी।

जेएनयू से आशना लोगों को एक हैरत भी हो सकती है कि इस उपन्यास में वह जेएनयू कहां है जो अपने देश–काल के तनाव से इस कदर आक्रांत है कि यहां के दरख्त, परिंदे और हर पत्ता भी गमे–दौराँ की जुबां बोलता है। जीवन की विविधता, जटिलता और संघर्ष कहाँ है ? जेएनयू की संघर्षशील परम्परा यहां खामोश क्यूं है ? क्या जिंदगी की राह सचमुच इतनी सहज है ?

बहरहाल वसी साहब का यह अफसाना शुरू से आखिर तक गमे–जानां का है फिर क्यों हम इस दुनिया को गमे–दौरा से बोझिल करें।

वैसे उपन्यास के बीच–बीच में लेखक ने जेएनयू की संस्कृति के कुछ दिलचस्प नजारे पेश किये हैं। यहां की हॉस्टल लाइफ, लाइब्रेरी, क्लास रूम की हलचल, कैंटीन सब–कुछ इसमें है। जेएनयू में पूरे भारत से छात्र आते हैं। इसके अलावा बड़ी तादाद में विदेशी छात्र भी पढ़ते हैं। ये सभी छात्र अपने–अपने प्रदेशों के सांस्कृतिक आयोजन करते हैं जिसके कारण साल भर जेएनयू में एक उत्सवी माहौल बना रहता है। अलग–अलग प्रांतों की बोली–बानी और वेश–भूषा वाले छात्रों से यहां मिनी इंडिया के दर्शन हो जाते हैं जिसकी झलक लेखक ने अपने उपन्यास में दिखलाई है। जेएनयू में इतने तरह–तरह के लोग रहते हैं फिर भी उनमें कोई भेदभाव नहीं है। यहां की सामासिक संस्कृति पूरी दुनिया के लिए एक मिसाल है। यहां कोई छोटा–बड़ा नहीं हैं। वह सिर्फ छात्र है। आने वाले कल के लिए तैयार होते एक जिम्मेदार युवा।

बेशक इस उपन्यास की भाषा भी अच्छी बन पड़ी है। मिश्री की तरह घुल जाने वाले अल्फाज अपनी सहजता के कारण जबान पर चढ़ जाते हैं। मुहावरे भी बड़े सटीक इस्तेमाल हुए हैं। गद्य साफ–सुथरा है। भाषा में रवानी है। उस पर शेरो–शायरी का छौंक ने नस्र (गद्य) में ग़ज़ल का सा असर पैदा किया है।

फिलहाल इस दिलकश अफसाने के लिए वसी साहब का शुक्रिया। चलो इस कायनात में कोई तो आशियां है जहां हम खुलकर हंस तो सकते हैं। जिंदगी को अपनी शर्तों पर जी सकते हैं।

.....

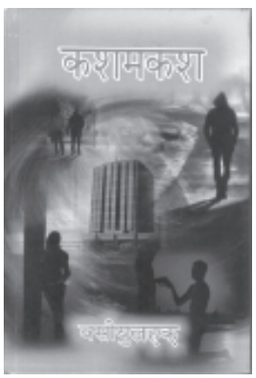

कशमकश : वसीयुलहक
प्रकाशक : किताबी दुनिया, दिल्ली
मूल्य : दो सौ रुपये

जेएनयू में पुराने छात्रों का वार्षिक सम्मेलन संपन्न

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एल्युमनाई एसोसिएशन का जेएनयू के चार दशक, विषयक वार्षिक सम्मेलन 31 अक्टूबर से 3 नवंबर तक आयोजित हुआ, जिसके विभिन्न सत्रों में जेएनयू के पुराने और वर्तमान छात्रों ने भाग लिया। पहले दिन 'आज का संवाद' परिचर्चा में वरिष्ठ पत्रकार और राज्य सभा चैनल के संपादक उर्मिलेश, दिल्ली विश्वविद्यालय की प्राध्यापक और उपन्यासकार अनुराध मारवा, लंदन की चिल्ड्रन सर्विस में काम करने वाली इरा भट्टाचार्य, इंडिया टूडे समूह के पत्रकार राजेश कुमार आदि ने भाग लिया। दूसरे दिन 'जीवन विज्ञान के चार दशक' और 'भारत और विश्वः अंतर्राष्ट्रीय संबंध के परिप्रेक्ष्य में' विषयक संगोष्ठियां आयोजित की गई, जिनमें जेएनयू के कुलपति और जीव विज्ञानी प्रो. सुधीर कुमार सोपोरी, आई.आई.टी. दिल्ली के प्रोफेसर सैयद एहतेशाम हसनैन, प्रो. नीरा भल्ला सरीन, राजनायिक वेणु राजमनी, राजीव नायर, नेशनल लॉ स्कूल बैंगलोर के प्रो. जयगोविन्द, उत्तम सिंह, जेएनयू की प्राध्यापक अर्चना ने भाग लिया। तीसरे दिन 2 नवंबर को 'आज का संवाद–2' संगोष्ठी में प्रसिद्ध समाजशास्त्री आनन्द कुमार, जाने–माने राजनीतिक विज्ञानी प्रो. कमल मित्र चिनॉय, पटकथा लेखक संजय चौहान, मध्य प्रदेश में सहकारिता के क्षेत्र में काम कर रहे मनोज सिन्हा आदि ने भाग लिया। आखिरी दिन 3 नवंबर को हिन्दी और उर्दू के कवियों ने एक मंच से अपनी कविताएं, गज़लें और नज्में प्रस्तुत कर हिन्दुस्तानी की परंपरा की याद दिलाई। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि असद जैदी, जितेन्द्र श्रीवास्तव, अखलाक आहन, प्रो. दुर्गा प्रसाद गुप्त, हेमंत जोशी, उनिता सच्चिदानंदन, डॉ. हादी सरमदी, जहां नज़ीर, जहीर रहमती और अहमद महफूज ने भी अपनी कविताओं का पाठ किया। कविताओं की इन प्रस्तुति के बाद गीत–संगीत कार्यक्रम का आयोजन हुआ, जिसमें संगीत विधाओं की विविधताओं की झलक प्राप्त हुई। सम्मेलन में बड़ी संख्या में जेएनयू के पूर्व छात्रों ने भाग लिया। कार्यक्रम में एसोसिएशन के मुख्य सलाहाकार और जेएनयू में अंग्रेजी के प्रोफेसर जीजेवी प्रसाद ने एसोसिएशन की गतिविधियों और इस वर्ष के कार्यक्रमों का परिचय दिया। एसोसिएशन के अध्यक्ष प्रो. रामाधिकार कुमार और सचिव डॉ. देवेन्द्र चौबे ने आज के कार्यक्रम में आए अतिथियों का स्वागत किया और इस बात पर बल दिया कि एल्युमनाई एसोसिएशन के जरिये हम पुराने छात्रों और वर्तमान छात्रों के बीच संवाद स्थापित करना चाहते हैं।

विचारों के क्षेत्र में पश्चिमी और गैर–पश्चिमी का फर्क नहीं होता

–राजेंद्र यादव

7 नवंबर को हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार और हंस के संपादक राजेन्द्र यादव ने जेएनयू में व्याख्यान देते हुए कहा कि विचारों के क्षेत्र में पश्चिमी और गैर–पश्चिमी जैसा कोई फर्क नहीं होता है। ऐसा कौन–सा विचार है जो पश्चिम से प्रभावित नहीं है। प्रत्येक विचार पर या तो पश्चिम का प्रभाव होता है या फिर उसे यहां की परिस्थितियों के अनुरूप ढाला जाता है। उक्त विचार यहां की परिस्थितियों के अनुकूल होने पर ही यहां पर व्यापक हुए। मार्क्सवाद पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि यह पश्चिमी विचार है, लेकिन भारतीय परिस्थितियों के माकूल होने के कारण ही भारत में मार्क्सवाद का विकास हुआ है। उन्होंने वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य पर बात करते हुए कहा कि आज का साहित्य समावेशी साहित्य है। जेएनयू की रेक्टर और राजनीति विज्ञानी प्रो. सुधा पई ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। भारतीय भाषा केन्द्र के अध्यक्ष प्रो. रामबक्ष ने स्वागत वक्तव्य दिया।

नए प्रकाशन

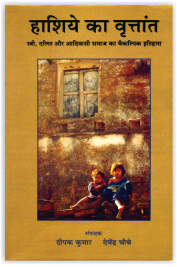

हाशिये का वृत्तांत : दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे। यह पुस्तक सामाजिक विज्ञान संस्थान में 2008 में प्रोफेसर दीपक कुमार के संयोजन में आयोजित एशिया के इतिहासकारों के सम्मेलन में पढ़े गए आलेखों पर आधारित है। इसमें स्त्री, दलित और आदिवासी समाज के वैकल्पिक इतिहास पर विचार किया गया है। प्रकाशक : आधार प्रकाशन, पंचकूला , मूल्य रू 595/– ISBN No 978–81–7675–322–0

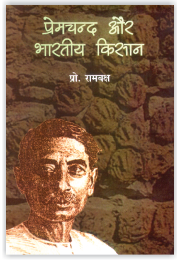

प्रेमचंद और भारतीय किसान : रामबक्ष। 'प्रेमचंद और भारतीय किसान' भारतीय भाषा केन्द्र के प्रोफेसर रामबक्ष की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक है। इस पुस्तक में प्रेमचंद के लेखन को केन्द्र में रखकर भारतीय किसानों के जीवन को व्याख्यायित और विश्लेषित किया गया है। प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 495 रुपये ISBN NO.978-93-5072-151-3

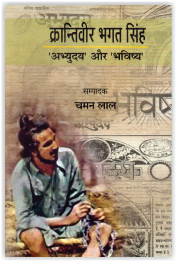

क्रांतिकारी भगत सिंह : 'अभ्युदय' और 'भविष्य' : चमनलाल। भारतीय भाषा केन्द्र में अनुवाद के प्रोफेसर चमनलाल की नयी पुस्तक है। इसमें 'अभ्युदय' तथा 'भविष्य' पत्रिकाओं से संबंधित सामग्रियों के माध्यम से भगत सिंह के क्रांतिकारी व्यक्तित्व पर विचार किया गया है। प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद मूल्य : 950 रुपये ISBN No. 978-81-8031-711-8

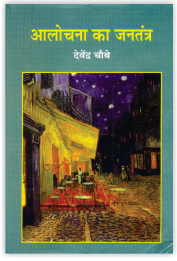

आलोचना का जनतंत्र : देवेन्द्र चौबे। यह भारतीय भाषा केंद्र के देवेन्द्र चौबे. की आलोचना की नयी पुस्तक है। इस किताब में हिंदी साहित्य, विश्व साहित्य, इतिहास आदि के बहाने हिंदी आलोचना और विचार में उभरकर आये स्त्री, दलित आदि सवालों पर विचार किया गया है। प्रकाशक : आधार प्रकाशन, पंचकूला , मूल्य रू 550/– ISBN No. 978-81-7675-322-7

केवल 5 मिनट : फ्रौंसवाज लोरौंजे। यह भाषा संस्थान में फ्रेंच भाषा के अध्येता आशीष अग्निहोत्री द्वारा अनूदित नाटक है। इस नाटक में लेखक ने आधुनिक समाज में स्त्री की अस्मिता और उसकी मुक्ति पर विचार के बहाने पुरुषवादी सोच का चित्रण किया है। प्रकाशक : संहिता प्रकाशन/गोयल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/– ISBN No- 81-8307-471-5

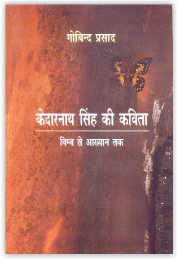

केदारनाथ सिंह की कविता : बिम्ब से आख्यान तक : गोबिन्द प्रसाद। भारतीय भाषा केन्द्र के डॉ. गोबिन्द प्रसाद की नवीनतम पुस्तक है। इसमें प्रसिद्ध कवि एवं जेएनयू के पूर्व प्रोफेसर केदारनाथ सिंह की कविता में बिम्ब,आख्यान आदि संदर्भों पर विचार किया गया है। प्रकाशक: स्वराज प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य:250 रूपये

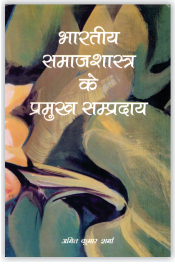

भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय : अमित शर्मा। यह सामाजिक विज्ञान संस्थान के अमित शर्मा की प्रमुख संप्रदाय और समाजशास्त्रियों पर केन्द्रित नयी पुस्तक है। इसमे भारतीय समाजशास्त्रियों के विचारों को केंद्र में रखकर सामाजिक सिद्धांतों को समझने का प्रयास किया गया है। प्रकाशक : डी के प्रिंट वर्ल्ड, नयी दिल्ली, मूल्य रू 650/–

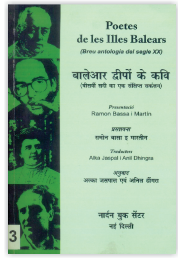

बालेआर द्वीपों के कवि : अनुवाद अलका जसपाल एवं अनिल ढींगरा। यह भाषा संस्थान के स्पेनिश के प्रोफेसर अनिल ढींगरा और अलका जसपाल के अनुवाद की नयी पुस्तक है। प्रकाशक: नार्दन बुक सेंटर, नई दिल्ली; ISBN No. 978-81-7211-297-4

''विश्वविद्यालय की विशेषताएँ होती हैं, मानववाद, सहिष्णुता, तर्कशीलता, विचार का साहस और सत्य की खोज। विश्वविद्यालय का काम है उच्चतर आदर्शों की ओर मनुष्य जाति की सतत यात्रा को संभव करना। राष्ट्र और जनता का हित तभी हो सकता है जब विश्वविद्यालय ठीक से अपने दायित्वों का निर्वाह करें।''

—जवाहरलाल नेहरू

फोटो गैलरी

1

2

3

4

5

6

1. जेएनयू के कुलपति प्रो. सुधीर कुमार सोपोरी से हिन्दी दिवस समारोह के अवसर पर पुरस्कार प्राप्त करते हुए प्रो. अरूण के. अत्री और श्री एम.के. प्रभाकर।
2. हिन्दी दिवस समारोह के अवसर पर बोलते हुए प्रो. नामवर सिंह।
3. विश्व हिन्दी दिवस समारोह के अवसर पर कुलपति प्रो. सुधीर कुमार सोपोरी और प्रो. वरयाम सिंह।
4. भारतीय भाषा केन्द्र में हमारे समय का साहित्य और समाज विषयक व्याख्यान के अवसर पर आये कथाकार और हंस के संपादक राजेन्द्र यादव। साथ में रेक्टर प्रो. सुधा पई, प्रो. रामबक्ष और डा. देवेन्द्र चौबे।
5. भारतीय भाषा केन्द्र में आये मॉरिशस के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक रामदेव धुरंधर। साथ में प्रो. के. नाचीमुत्तु, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, डॉ. राजेन्द्र कुमार मिश्र, प्रो. रामबक्ष और डॉ. देवेन्द्र चौबे।
6. हिन्दी दिवस समारोह के अवसर पर उपस्थित कुलपति प्रो. सुधीर कुमार सोपोरी । साथ में प्रो. केदारनाथ सिंह, प्रो वरयाम सिंह, डॉ. सुबोध महंति, डॉ. संदीप चटर्जी और डॉ. रणजीत साहा।

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के लिए कुलसचिव डॉ. संदीप चटर्जी द्वारा प्रकाशित। मुद्रक : एपी इंडिया, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया, फेज–1, नई दिल्ली–110020